ॐ

परमात्मने नमः

श्री नेमिचन्द भण्डारी कृत

उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला

भाषा वचनिकाकार :

पण्डित भागचन्दजी छाजेड़

गुजराती अनुवाद :

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राजस्थान)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

प्रथमावृत्ति :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता पार्क, विलेपार्ला (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापू नगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर कुन्दकुन्द कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाइप सेटिंग :
विवेक ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक व्यवस्था :

प्रकाशकीय

श्री नेमिचन्द भण्डारी द्वारा रचित 161 गाथाओं में निबद्ध प्रस्तुत ग्रन्थ 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' का प्रस्तुत संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस लघुकाय ग्रन्थ में जीव के सबसे प्रबल शत्रु अगृहीत-गृहीत मिथ्यादर्शन का अनेक प्रकार से खण्डन करते हुए जीव को सन्मार्ग पर लगाने का सफल प्रयास किया गया है। इस ग्रन्थ की कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है किन्तु अध्यात्म मनीषी पण्डित भागचन्दजी छाजेड़ द्वारा ढूंढ़ारी भाषा में लिखित एकमात्र टीका उपलब्ध है। पण्डितजी का संक्षिप्त परिचय आगे दिया गया है।

इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति किसी शास्त्र भण्डार में से विदिशा निवासी ब्रह्मचारी सन्तोषकुमारजी सोनगढ़ लेकर आये और उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री को अध्ययन हेतु इस नवीन शास्त्र की उक्त प्रति समर्पित की। उन दिनों पूज्य गुरुदेवश्री का स्वास्थ्य अनुकूल न होने से उन्होंने इस ग्रन्थ का थोड़ा अवलोकन कर, यह पुस्तक ब्रह्मचारी हरिभाई को पढ़ने के लिए यह कहकर दिया कि यह कोई नया शास्त्र है जिसे तुम पढ़ लेना। इस पुस्तक को पढ़कर हरिभाई को विशेष प्रसन्नता हुई और उन्होंने इसकी मूलानुगामी नकल तैयार की जिसे बाद में उन्होंने ही अगस्त 1981 में गुजराती अनुवाद कर 'श्री कहान स्मृति प्रकाशन' से प्रकाशित किया।

इस ग्रंथ की रचना के सम्बन्ध में मूल प्रति में इतना लिखा है कि **आचार्य धर्मदासजी के सदुपदेशार्थ रचित भट्टारक नेमिचन्द। हिन्दी अर्थकार पण्डित भागचन्द्रजी छाजेड़।**

इस ग्रन्थ के भाषा-वचनिकाकार पण्डित भागचन्दजी छाजेड़ द्वारा लिखित सत्तास्वरूप ग्रन्थ से सम्पूर्ण मुमुक्षु समाज भलीभाँति परिचित है। यह सत्तास्वरूप ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को भी अत्यन्त प्रिय था और उन्होंने इस

ग्रन्थ पर प्रवचन भी प्रदान किये हैं। जिनका प्रकाशन हिन्दी और गुजराती में **मुक्ति का मार्ग** नाम से हजारों की संख्या में प्रकाशित हो गये हैं। पण्डित भागचन्दजी के द्वारा ही महावीराष्टक स्तोत्र, अमितगति श्रावकाचार वचनिका आदि का लेखन हुआ है तथा अनेक आध्यात्मिक एवं भक्तिगीतों की संरचना हुई है, जो काव्य साहित्य की अमूल्य निधि है।

इस ग्रन्थ की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता और प्रमाणिकता यह भी है कि इसकी अनेक गाथाएँ आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने अपनी लोकप्रिय कृति मोक्षमार्गप्रकाशक में विभिन्न प्रसंगों के लिए उद्धरणस्वरूप प्रस्तुत की है। जिनके क्रमांक इस प्रकार हैं – गाथा नं० 5, 7, 14, 18, 23, 31, 36, 37, 93। इस प्रकार इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की नौ गाथाएँ मोक्षमार्गप्रकाशक में उद्धृत की गयी हैं।

इस ग्रन्थ के अध्ययन की प्रेरणा करते हुए अर्थकार पण्डित भागचन्दजी छाजेड़ इस प्रकार कहते हैं–

इस ग्रन्थ में देव–गुरु–धर्म के श्रद्धान का पोषक उपदेश भली प्रकार किया है सो यह मोक्षमार्ग का प्रथम कारण है क्योंकि सच्चे देव–गुरु–धर्म की प्रतीति होने से जीवादिक पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान–ज्ञान–आचरण रूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है और तब जीव का कल्याण होता है इसलिए अपना कल्याणकारी जान इस शास्त्र का अभ्यास करना योग्य है।

स्वयं ग्रन्थकार का यह उल्लेख भी मननीय है।

कई अधम मिथ्यादृष्टि इस प्रामाणिक शास्त्र की भी आचरण में निन्दा करते हैं सो होय! हाय!! निन्दा करने से जो नरकादि के दु:ख होते हैं उनको वे नहीं गिनते हैं। कैसे हैं वे अत्यन्त मान और मोह रूपी राजा के द्वारा ठगाये गये हैं अर्थात् जो यथार्थ आचरण तो कर नहीं सकते और अपने को महन्त मनवाना चाहते हैं उनको यह यथार्थ उपदेश रुचता नहीं। (गाथा 97)

इस ग्रन्थ में बहुत सरस पद्धति से सच्चे देव–गुरु साधर्मी की महिमा बतलायी गयी है और धर्मप्रेमी गृहस्थ का जीवन कैसी सुन्दर धर्म भावनावाला होता है, इसका उपदेश दिया गया है। जिज्ञासु जीवों को इस शास्त्र द्वारा धर्म आराधना की विशेष प्रेरणा प्राप्त होगी, ऐसी भावना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के गुजराती संस्करण के आधार से हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज०) ने किया है और प्रत्येक गाथा का हिन्दी पद्यानुवाद सागर/जयपुर निवासी बालब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन द्वारा किया गया है। जिसे इस ग्रन्थ में प्रकाशित किया जा रहा है।

सभी साधर्मी बन्धुओं से विशेष अनुरोध है कि इस संक्षिप्त किन्तु सारभूत ग्रन्थ का अवश्य स्वाध्याय कर लाभ उठावें और गृहीत मिथ्यात्व के सही स्वरूप को समझकर उसके परित्यागपूर्वक आत्महित के मार्ग में प्रयाण करें।

निवेदक

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

मुम्बई

सम्पादकीय

श्री नेमिचन्द्र भण्डारी द्वारा लिखित 161 गाथाओंवाले इस लघुकाय ग्रन्थ का यह प्रस्तुत संस्करण आत्मार्थीजनों को सादर समर्पित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

यह ग्रन्थ लघुकाय होते हुए भी अपने में गहरा मर्म समाहित किये हुए है, यही कारण है कि अध्यात्मरुचि सम्पन्न पण्डित भागचन्द्रजी छाजेड़ ने तो इसकी भाषा टीका की है और आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने अपनी लोकप्रिय कृति में इस ग्रन्थ की गाथाएँ उद्धरण हेतु प्रस्तुत की है। यह ग्रन्थ अपने में अनेक विषयों का सटीक प्रतिपादन संजोये हुए है, जो प्रत्येक आत्महितैषी के लिए अनिवार्यरूप से अनुशीलन-योग्य है।

परम पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को एक साधर्मी द्वारा इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति प्रदान की गयी थी, जिसे उन्होंने अवलोकन कर ब्रह्मचारी हरिभाई को अध्ययन हेतु प्रदान की। भाईजी ने इस ग्रन्थ का अध्ययन किया और वे अत्यन्त प्रभावित हुए, फलस्वरूप उन्होंने इसका गुजराती भाषान्तर कर, गुजराती में प्रकाशन भी किया।

एक बार बिजौलियां (राजस्थान) में हमें धार्मिक शिक्षण प्रदान करने पधारे पण्डित कैलाशचन्द्रजी, बुलन्दशहरवालों ने इसकी गुजराती प्रति मुझे देते हुए इसका हिन्दी करने की प्रेरणा प्रदान की। उनकी पावन प्रेरणा से उस समय इसका हिन्दी रूपान्तर करके मैंने उनके आदेशानुसार श्री मन्नूलालजी एडवोकेट, सागर को प्रेषित किया, और उन्होंने इसका समुचित सम्पादन कर मध्यक्षेत्रीय मुमुक्षु मण्डल से प्रकाशन कराया। कालान्तर में इसी ग्रन्थ का सचित्र एवं अनेक विशेषताओं से युक्त एक संस्करण ब्र० कुन्दलताजी और ब्र० आभाजी दिल्ली के माध्यम से प्रकाश में आया।

दीर्घ अन्तराल के बाद इस ग्रन्थ की वर्तमान में अनुपलब्धता और समाज

में धीरे-धीरे पैर पसार रही गृहीत मिथ्यात्व की प्रवृत्तियों ने मुझे फिर से इस ग्रन्थ पर कार्य करने हेतु प्रेरित किया, उसी का परिणाम यह संस्करण है, जिसमें पूर्व प्रकाशित दोनों संस्करणों तथा गुजराती प्रति से भी यथोचित सहयोग लिया गया है।

इस ग्रन्थ में किसी एक विषय का प्रतिपादन न होकर, विविध विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है -

विषय	गाथा	विषय	गाथा
मंगलाचरण	1	ज्ञानी गुरु से ही देशना प्राप्ति	22,23
जिनभक्ति की महिमा	2, 67	सत्य उपदेश की पहचान	24
जिनधर्म की महिमा	3,20,127	भवितव्यता अलंघ्य है	25
कुदेव पूजन मिथ्यात्व है	4,71,148	धार्मिक पर्वों की प्रशंसा	26
मिथ्यात्व का फल	5,46	हिंसक पर्वों की निन्दा	27,76
कुलाचार धर्म नहीं है	6,72	संगति का प्रभाव	28,29,47,75,141
कुलक्रम से न्याय नहीं होता	7	गुण दोषों का कारण धन है	30
वैराग्य की दुर्लभता	8,67,95	कुपात्रदान निष्फल है	31
ज्ञानी की अज्ञानी पर करुणा	9,40,114	असमर्थ वक्ताओं की बहुलता	33
सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है	10	ज्ञानी वक्ता पापियों को सिरदर्द हैं	34
उत्सूत्रभाषी को धर्म प्राप्ति दुर्लभ है	11,65,99	केवली के अभाव पर खेद	35
द्रव्यलिंग से मुक्ति नहीं होती	12	कुगुरु, सर्प से भी अधिक कष्टदायक है	36,37
कदाग्रही उपदेश का पात्र नहीं	13,125,126	अज्ञान की महिमा	38,109
ज्ञानी का क्रोध भी क्षमा है	14,117	मिथ्यात्व के उदय की पहिचान	41,43,44,45,93,153,154
जिनधर्म ही सच्चा हितैषी है	15,83	सम्यक्त्व के उदय की पहिचान	42,87,89,91
जिनधर्म का ज्ञान दुर्लभ है	16,64	सत्संगति का उपदेश	48,106,128,129
सत्य वक्ता की प्राप्ति दुर्लभ है	17,32,115,143	धर्म की अवनति का कारण-बलवान अज्ञानी	49
उत्सूत्रभाषी वक्ता त्याज्य है	18,56,57	धर्मात्माओं को कष्ट का कारण-भ्रष्ट धनिक	50
मोह की महिमा	19,39		
ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर	21,85		

विषय	गाथा
धर्मात्माओं के अनादर का कारण-मिथ्यावादी	51
धर्मात्माओं के सहायी प्रशंसनीय हैं	52,62,67
शास्त्रज्ञान में सहायक महान है	53,54,101
कषायवान के धर्म का अभाव है	55,78,98
मिथ्यादृष्टि प्रशंसा के योग्य नहीं	58,73,80
ज्ञानी को जिनाज्ञा भंग का भय है	59,69
कर्मोदय की प्रबलता	60
धर्मात्माओं का उपहास अनुचित है	61,70,81
सम्यग्दर्शन की दुर्लभता	64,160
सम्यग्ज्ञान ही सम्यक्चारित्र का कारण	66
लोकमूढ़ता का प्रभाव	68
परीक्षा करके धर्म धारण करना	74
मिथ्यात्वी गृहस्वामी कुलघाती है	77
कुटुम्ब का मिथ्यात्व विरला ही मिटाता है	79
मिथ्यात्वी के विवेक का अभाव है	84,102,103
सम्यग्दृष्टि इन्द्र द्वारा वंदनीय है	86
सम्यक्त्वी ही यथार्थ वैभववन्त है	88,94
जिनपूजन सम्यक्त्व का कारण है	90,131,132
ग्रन्थकार का आभार	96
शास्त्र निन्दक कुगति का पात्र है	97
ज्ञान बिना क्रिया मूढ़ करते हैं	100,116
जिनाज्ञानुसारी ही सच्चा गुरु है	92,104,105,107
भव्य की पहिचान-जैनधर्म में रुचि	108,112,113
शोक से तीव्र अशुभ बन्ध होता है	110,111
अज्ञानी द्वारा किसी का हित नहीं होता	118
धन प्राप्त करने का भाव पाप है	119,120
उत्सूत्रभाषी महापापी है	121,122,123,124
गुरु परीक्षा करके ही पूजनीय है	130,139,140
पंचम काल की विशेषता	133,158,159
गुरु की परीक्षा का उपाय	134,135,136
धर्म को जानने की विधि	137
व्यवहार परमार्थ का साधक है	138
ज्ञानी जीव ऊपर ही ऊपर चढ़ते जाते हैं	142,156
पूजन करके मान चाहना पाप है	144
साधर्मी का साथ न देनेवाला जैनी नहीं है	145,146,147
मिथ्यात्व का इलाज जैनमत है	149
धर्मायतनों में भेदभाव करना मूढ़ता है	150,151,152
आत्मज्ञान बिना श्रावकपना नहीं	155
ज्ञानी की भावना-जिनवचन प्राप्ति	157
ग्रन्थकार का निवेदन	161

उक्त विषयों के आलोक में यह सुनिश्चितरूप से कहा जा सकता है कि निश्चित ही इस ग्रन्थ का प्रणयण जीव के प्रबल शत्रु अगृहीत-गृहीत मिथ्यात्व के निषेध के लिये हुआ है। यद्यपि मिथ्यात्व ही जीव का सबसे अधिक अहितकर्ता विकृत परिणाम है; फिर उसके साथ उसे पोषित करनेवाली जीव की परिणामभूमि को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, जो जीव का सर्वाधिक अहितकर्ता है। इन सबका विस्तृत विवेचन मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें-छठवें अधिकार में तथा छहढाला की दूसरी ढाल में भी उपलब्ध होता है, जिसे वहाँ से अध्ययन करके जाना जा सकता है।

यह तो सर्वविदित ही है कि इस वर्तमान युग में मिथ्यात्व पर तीव्र प्रहार करते हुए सम्यक्त्व सूर्य से आलोकित पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की दिव्यदेशना धारावाहीरूप से 45 वर्षों तक प्रवाहित हुई है और आज वह कल्याणीवाणी सीडी-डीवीडी और साहित्य के माध्यम से हमें उपलब्ध है; जो निरन्तर हमें मिथ्यात्व महापाप से बचने को प्रेरित कर रही है। पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस गर्त से हमें निकाला, आज सभ्यता, लोकव्यवहार इत्यादि के नाम से उसी गर्त में गिरने के उपक्रम कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होने लगे हैं, इसलिए इस ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई; फलस्वरूप प्रस्तुत प्रकाशन सभी को सादर समर्पित है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस ग्रन्थ के संशोधन कार्य में मुझे पण्डित अरुणकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, जयपुर का भी आत्मीय सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सभी जीव इस ग्रन्थ के अभिप्राय को हृदयंगम कर मिथ्यात्व के विष से बचते हुए सम्यक्त्व सुधा का पान करें-ऐसी पवित्र भावना है।

देवेन्द्रकुमार जैन
(बिजौलियां-राज०)
तीर्थधाम मंगलायतन

दिनांक 18.08.2016
वात्सल्य पर्व रक्षाबन्धन

वचनिकाकार पण्डित भागचन्द्र जी : एक परिचय

साहित्य-सेवी, श्रुत-आराधक, आत्म-साधक १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और २० वीं शताब्दी के प्रथम चरण सम्बन्धी स्व-नाम-धनय विद्वद्-परम्परा में कविवर पण्डित भागचन्द्रजी का प्रमुख स्थान है। ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत ईशागढ़ के निवासी आप दिगम्बर जैन-धर्म के अनुयायी, ओसवाल जाति के छाजेड़ गोत्रीय नर-रत्न थे।

कविवर वृद्धिचन्द्रजी कृत क्षमा-भावाष्टक के अनुसार आपका जन्म विक्रम संवत् १८७७ की कार्तिक कृष्णा तृतीया को हुआ था। मूल छन्द इस प्रकार है-

अष्टादश सित्योत्तरे, कार्तिक वदि शुभ तीज।
ईसागढ़ कौ जन्म थौ, भागचन्द गुनि बीज।।

प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी भाषा के मर्मज्ञ विद्वान आप दर्शनशास्त्र के विशिष्ट अभ्यासी थे। संस्कृत और हिन्दी-दोनों ही भाषाओं में काव्य-रचना की अद्भुत क्षमता-सम्पन्न आपको शास्त्र-प्रवचन और तत्त्व-चर्चा में विशेष रस आता था। अपने जीवनपर्यंत आप प्रतिवर्ष सिद्धक्षेत्र सोनागिरी जी के वार्षिक मेले पर विशेषरूप से शास्त्र-प्रवचन द्वारा जिज्ञासुजनों को विशेष लाभान्वित करते रहे हैं।

आर्थिक विपन्नता के कारण आपके जीवन का कुछ काल जयपुर में भी व्यतीत हुआ था। आपके द्वारा रचित पदों से आपके जीवन और व्यक्तित्व के संबंध में अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है। जिन-भक्त होने के साथ ही आत्म-साधक होने से सांसारिक भोगों को निस्सार समझने वाले आपका जीवन प्रतिदिन सामायिक आदि क्रियाओं, अनुष्ठानों से अनुप्राणित रहा है।

'भाई जी' शब्द से सम्बोधित किए जानेवाले आप इस मनुष्य भव में ५६ वर्ष पर्यन्त रहे हैं। विक्रम संवत् १९३३, आषाढ़ कृष्णा द्वादशी, दोपहर दो बजे आपने समाधिपूर्वक देह का त्याग किया था।

क्षमा-भावाष्टक में लिखित कविवर वृद्धिचन्दजी के शब्दों में आपके समाधि-मरण का दृश्य इस प्रकार है-

"रात रही दो पहर जब, यम ने डाला जाल।
ता बन्धन कूँ काटवै, दियौ परिग्रह डाल।।
धर्मी कूँ, बुलाई आप आयु की चेताई
काल आन पहुँचौ भाई, हम सिद्ध सरण पाई है।
वस्त्र दूरि डारी, केश हाथ से उपारी,
पद्मासन कूँ धारी बैठे तृण कौं विछाई है।।
अब साँस की चढ़ाई पहर चार तक पाई,
तवै नवकार सुनाई पास बैठे सबै भाई है।
बारस की तिथि पाई दुपैरौ पै दो बजाई,
भाईजी पधारे पर गति शुभपाई है।"

मंदसौर (मध्यप्रदेश) निवासी सेठ हजारीलाल जी वाकलीवाल के पितामह सेठ जोधराजजी की हवेली में आपका समाधि-मरण हुआ था।

आपकी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय, मूलतया आपके पद्यात्मक साहित्य से प्राप्त होता है। आपके पदों में तर्क और चिन्तन की प्रधानता है। रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से अलंकृत आपके पद्य-साहित्य में विराट कल्पना, अगाध दार्शनिकता और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विशेषताएं विद्यमान हैं। संसार में किस प्रकार से निर्भय होकर ज्ञानी जीव विचरण करते हैं; उनका अपना आचरण और व्यवहार कैसा होता है? इत्यादि विषयों का विश्लेषण करनेवाले आपके पदों में चिन्तन की अथाह गहराईयाँ विद्यमान होते हुए भी भावुकता रंच-मात्र नहीं है।

वर्तमान में आपकी निम्नलिखित रचनाएं उपलब्ध हैं-

१. महावीराष्टक स्तोत्र : शिखरिणी छन्द में निबद्ध आठ पद्यों द्वारा इसमें, इस युग के अंतिम तीर्थ-नायक, वर्तमान शासन-प्रवर्तक भगवान महावीरस्वामी की आलंकारिक संस्कृत भाषा में स्तुति की गई है।

अन्त में अनुष्टुप छन्दमय एक पद्य द्वारा इसके पठन-श्रवण का फल भी बताया गया है। इस स्तोत्र के माध्यम से आप सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

२. अमितगति श्रावकाचार भाषा वचनिका : आचार्य अमितगति

द्वारा लिखित श्रावकाचार ग्रन्थ की यह ब्रजभाषा में की गई वचनिका है।

३. उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला वचनिका : आचार्य धर्मदास के सदुपदेश से भट्टारक नेमिचन्द भण्डारी द्वारा लिखे गए; महा भयंकर पाप गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व की भयंकरता बताकर उसके त्याग का उपदेश देनेवाले इस ग्रन्थ की यह वचनिका है।

४. प्रमाण-परीक्षा वचनिका : आचार्य विद्यानन्द द्वारा रचित प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण और मत-मतान्तर-सहित उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन करनेवाले प्रमाण-परीक्षा ग्रन्थ की यह वचनिका है।

५. नेमिनाथ पुराण : आचार्य जिनसेन-विरचित हरिवंश पुराण का सार लेकर बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का समग्र जीवन-दर्शन इसमें उपलब्ध है।

६. सत्ता स्वरूप : गृहीत मिथ्यात्व छुड़ाने के लिए सम्बोधन शैली द्वारा इसमें, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि के माध्यम से वीतरागता-सर्वज्ञता-सम्पन्न सच्चे देव की सत्ता सिद्ध की गयी है। गद्य-शैली में लिखी गयी यह आपकी मौलिक कृति है।

७. पद संग्रह : इसमें भक्तिपरक, वैराग्य-पोषक, सैद्धान्तिक आदि विषयों से परिपूर्ण ८६ पदों का संग्रह है।

८. ज्ञानसूर्योदय वचनिका : आचार्य वादिचन्द्र सूरि द्वारा दार्शनिकता -युक्त प्रतीकात्मक नाटक शैली में लिखे गए गद्य-पद्यात्मक 'ज्ञानसूर्योदय' नामक संस्कृत नाटक का यह ढूँढारी मिश्रित ब्रज भाषा में अनुवाद है।

उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ये सभी कृतियाँ विक्रम संवत् १९०७ से १९१३ पर्यन्त के काल में रचित हैं; अत: इस काल को आपकी साहित्य-साधना का सुवर्ण-काल कहा जा सकता है।

इस प्रकार आपने आत्माराधना से अपने जीवन का सदुपयोग करने के साथ-साथ जिनवाणी माँ के अक्षय-कोश को भी अपनी साहित्य-साधना से समृद्ध किया है।

ब्रह्मचारिणी कल्पना जैन, सागर

ॐ

परमात्मने नमः

श्री नेमिचन्द भण्डारी विरचित

उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला

(पण्डित भागचन्दजी छाजेड़ कृत भाषा वचनिका)

अनुवादक का मङ्गलाचरण

पंच परम गुरु नमन करि, वंदूं श्री जिनवान।
जा प्रसाद सब अघ टरैं, उपजत सम्यग्ज्ञान।।[१]

शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति हो – इस प्रयोजन से अपने इष्टदेव को नमस्कार करके 'उपदेश-सिद्धान्त-रत्नमाला' नामक प्राकृत गाथामय ग्रन्थ की गद्यमय देशभाषा (हिन्दी) में वचिनका लिखता हूँ।

इस ग्रन्थ में सत्यार्थ देव-गुरु-धर्म का दृढ़ श्रद्धान करानेवाले उपदेशरूपी रत्नों का संग्रह है और यही मोक्षमार्ग का प्रथम कारण है। देव-गुरु-धर्म की दृढ़ प्रतीति होने से जीवादिक पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, तभी इस जीव का परम कल्याण होता है। इसलिए इस ग्रन्थ को अपना परम कल्याणकारी जानकर नित्य ही इसका अभ्यास करना योग्य है।

ग्रन्थकार का मङ्गलाचरण

धर्मी के भीतर में देव-गुरु-धर्म का वास होता है

अरहं देवो सुगुरु, सुद्धं धम्मं च पंच णवयारो।
धण्णाण कयत्थाणं, णिरंतरं वसइ हिययम्मि।।१।।

---

१. वीतराग सर्वज्ञ के बंदूँ पद शिवकार।
जासु परम उपदेश मणि माला त्रिभुवन सार।। पाठान्तर

अरहन्त देव सुगुरु सुशुद्ध, धर्म पंच णवकार ये।
सुकृतार्थ धन्यात्मा के चित में, नित रहें सर्वत्र ये।।१।।

अर्थ :– चार घातिया कर्मों का नाश करके अनन्त ज्ञानादिक को प्राप्त कर लिया है जिन्होंने ऐसे अरहन्त देव और अंतरंग मिथ्यात्वादिक परिग्रह तथा बहिरंग वस्त्रादि परिग्रह रहित ऐसे प्रशंसनीय गुरु तथा हिंसा आदि दोषरहित निर्मल जिनभाषित धर्म और पंच परमेष्ठी वाचक पंच नमस्कार मन्त्र – ये चार पदार्थ–अपना कार्य जिन्होंने कर लिया है, ऐसे उत्तम (कृतकृत्य) पुरुषों के हृदय में निरन्तर रहते हैं।

भावार्थ :– मोक्षमार्ग की प्राप्ति अरहन्तादिक के निमित्त से होती है, इसलिए निकट भव्य जीवों को ही इनके स्वरूप का विचार आता है, अन्य मिथ्यादृष्टियों को इनकी प्राप्ति होना दुर्लभ है।

जिनेन्द्र की श्रद्धा का माहात्म्य

जइ ण कुणसि तवयरणं, ण पढसि ण गुणसि ददासि णो दाणं।
ता इत्तियं ण सक्किसि, जं देवो इक्क अरहन्तो।।२।।

नहिं कर सको यदि दान अध्ययन, मनन तप तो कुछ नहीं।
पर करो श्रद्धा देव जिनवर, मात्र यह सब फलमयी।।२।।

अर्थ :– हे भाई! यदि अपनी शक्ति की हीनता के कारण तू तपश्चरण नहीं कर पाता है, विशेष अध्ययन नहीं कर पाता है, और न ही विचार कर पाता है और दान भी नहीं कर पाता है तो ये सब कार्य तू भले ही नहीं कर; परन्तु एक वीतराग देव की श्रद्धा तो दृढ़ राख, क्योंकि जिन कार्यों को करने के लिये अकेले एक अरहन्त देव समर्थ हैं, उन कार्यों को करने के लिये ये तपश्चरणादि कोई भी समर्थ नहीं हैं।

भावार्थ :– जो पुरुष अपनी शक्ति की हीनता के कारण तपश्चरण आदि तो नहीं करता है; परन्तु – 'भगवान अरहन्तदेव ने जो कहा है,

वह ही सत्य है,' इस प्रकार अरहन्त भगवान के मत का श्रद्धान करता है, वह पुरुष मोक्षमार्गी ही है; और अरहन्त भगवान के मत की श्रद्धा किये बिना यदि घोर तपश्चरणादि करे तो भी उससे विशेष फल नहीं मिलता है।

इसलिए जितनी अपनी शक्ति होवे, उतना कार्य करना चाहिये, और जिस कार्य को करने की शक्ति नहीं हो, उसका श्रद्धान रखना चाहिये, क्योंकि 'श्रद्धान ही मुख्य धर्म है'-ऐसा जानना।

जिनधर्म का माहात्म्य

रे जीव भव दुहाइं, इक्कुच्चिय हरइ जिणमयं धम्मं।
इयराणं पणमंतो, सुह कज्जे मूढ मुसिओसि।।३।।

हे जीव! जिनमत धर्म केवल, नित्य सब दुख मिटाता।
हे मूढ़! सुख-हेतु इतर को, नमन से नित ठगाता।।३।।

अर्थ :- अरे जीव! जिनेन्द्र-भाषित धर्म अकेला ही संसार के समस्त दु:खों को हरनेवाला है; इसलिए हे मूढ़मति! सुख के लिये अन्य कुदेवादिकों को नमस्कार करता हुआ तू ठगाया गया है।

भावार्थ :- समस्त सुखों का कारण ऐसा जो जिन-धर्म उसे प्राप्त करके भी जो मूर्ख प्राणी सुख के लिये अन्य कुदेवों को पूजता है, वह अपने प्राप्त हुए सुख को भी खो देता है, और मिथ्यात्वादि के योग से पाप-बंध करके उलटा नरकादिक में दु:ख ही भोगता है।

कुदेवों को पूजना मिथ्यात्व है-

देवेहिं दणवेहिं, ण सुउ भरणाउ रक्खिओ केवि।
दिढकय जिण सम्मत्तां, बहुविह अजरामरं पत्ता।।४।।

'इन देव-दानव ने मरण से, बचाया' सुनते नहीं।
पर जिनमती सम्यक्त्व दृढ़ से, अजर अमर हुए सभी।।४।।

अर्थ :– देव अर्थात् कल्पवासी देव और दानव अर्थात् भवनत्रिक (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी) – इनके द्वारा किसी जीव की मृत्यु से रक्षा हुई हो – ऐसा आज तक सुनने में नहीं आया है; परन्तु जिन्होंने जिनराज का सम्यक्त्व रूप दृढ़ श्रद्धान किया है, ऐसे अनेक जीवों ने अजर अमर पद पाया है।

भावार्थ :– इस जीव को समस्त भयों में मरण भय सबसे बड़ा भय है, उसे दूर करने के लिये यह जीव कुदेवादिक को पूजता है; परन्तु कोई भी देव इसे मृत्यु से बचाने में समर्थ नहीं है। इसलिए कुदेवों को पूजना–वंदना मिथ्याभाव है।

रागद्वेष रहित सर्वज्ञ अरहन्त देव के श्रद्धान से मोक्ष की प्राप्ति होता है, जहाँ पर यह जीव सदैव अविनाशी सुख भोगता है। इसलिए जिनेन्द्र भगवान ही मरण भय का निवारण करते हैं–ऐसा जानना।

मिथ्यात्व का फल

जह कुवि वेसारत्तो, मुसज्जिमाणो वि मण्णए हरसं।
तह मिच्छवेस मुसिया, गयंपि ण मण्णंति धम्मणिहिं।।५।।

नित लुटाते वेश्यारती, धन हर्ष से मानें नहीं।
त्यों कुवेशी से धर्म धन को, ठगाते, मानें नहीं।।५।।

अर्थ :– जैसे कोई वेश्यासक्त पुरुष अपना धन ठगाता हुआ भी हर्ष मानता है, वैसे ही मिथ्या–भेषधारियों द्वारा ठगाता हुआ जीव भी अपनी धर्मरूपी निधि के चले जाने पर भी इस बात को मानता नहीं है, जानता नहीं है।

भावार्थ :– जिस प्रकार कोई वेश्यासक्त पुरुष तीव्र राग के उदय से अपना धन ठगाता हुआ भी हर्ष मानता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के

उदय से मिथ्यादृष्टि जीव भी मिथ्याभेष के धारक जो रक्तांबर, श्वेतांबर, परमहंस, एक दंडी, त्रिदंडी, ढूंढिया आदिक को धर्म के लिये हर्षित होकर पूजता है, नमस्कारादि करता है, उससे सम्यग्दर्शन रूपी धर्म की निधि की जो हानि होती है, उसे वह जानता ही नहीं है। यह सब मिथ्यात्व की महिमा है।

यहाँ कोई कहता है कि - हमारे यहाँ तो इन मिथ्याभेषियों की सेवा-पूजा कुलक्रम (परिपाटी) से चली आ रही है तथा अन्य बहुत लोग भी उनकी पूजा-भक्ति करते हैं, इसलिए हम अपना कुलधर्म कैसे छोड़ दें? उन्हें आचार्य समझाते हैं :-

परीक्षा करके ही धर्म ग्रहण करना चाहिये

लोयपवाहे स कुलं, कम्मम्मि जइ होदु मूढ धम्मुत्ति।
ता मिच्छाण विधम्मो, धकाई अधम्म परिवाडी।।६।।

यदि लोकरूढ़ी स्वकुलक्रम, में धर्म मानो मूढ़ हो।
तो पाप धर्म हुए अधर्म परम्परा किसको कहो?।।६।।

अर्थ :- हे मूढ़! यदि लोक प्रवाह (भेड़ चाल) यानि अज्ञानी जीवों द्वारा माने हुए आचरण में तथा कुलक्रम (कुल परिपाटी) में ही धर्म होवे तो म्लेच्छ कुल में चली आई हिंसा भी धर्म कहलावेगी। तब फिर अधर्म की परिपाटी कौन-सी ठहरेगी?

भावार्थ :- लोक-प्रवाह तथा कुलक्रम में धर्म नहीं है। धर्म तो जिनवर कथित वीतराग भावरूप है। यदि किसी के कुल में सच्चा जिनधर्म भी चला आ रहा हो और वह उसे कुलक्रम जानकर सेवन करता है, तो वह भी विशेष फल का दाता नहीं है। इसलिए जिनवाणी के अनुसार परीक्षापूर्वक निर्णय करके ही धर्म को धारण करना चाहिए।

कुलक्रम से न्याय नहीं होता

लोयम्मि रायणीई, णायं ण कुल कमम्मि कय आवि।
किं पुण तिलोअ पहुणो, जिणिंद धम्माहि गारम्मि।।७।।

'हो न्याय कुलक्रम से नहीं', यह राजनीति लोक की।
तब तीन लोक प्रभु जिनों के, धर्म में यह क्यों सही?।।७।।

अर्थ :– लोक में भी राजनीति है कि न्याय कभी कुलक्रम से नहीं होता। तो फिर क्या तीन लोक के प्रभु जो अरहन्त परमात्मा हैं, उनके धर्म में न्याय कुलक्रम के अनुसार होगा? कभी नहीं होगा।

भावार्थ :– लोक रीति ऐसी है कि राजा भी कुलक्रम के अनुसार न्याय नहीं करता है। जैसे - कोई बड़े कुल का मनुष्य हो और वह चोरी आदि अन्याय करे तो राजा उसे दण्ड ही देगा। तब फिर विचार करो कि ऐसा अलौकिक उत्कृष्ट जैनधर्म उसमें कुलक्रम अनुसार न्याय कैसे होवे? अर्थात् कभी नहीं होगा।

यदि कोई अपने को बड़े आचार्यों के कुल का बतलाकर पाप कार्य करेगा, तो वह पापी ही है। ऐसे को गुरु मानना तो सर्वथा मिथ्यात्व का ही प्रभाव है।

कुगुरु के निकट वैराग्य की असंभवता

जिण वयण वियत्तूण वि, जीवाणं जं ण होइ भव विरई।
ता कह अवियत्तूणवि, मिच्छत्त हयाण पासम्मि।।८।।

यदि जिन वचन को जान भी, भव विरक्ति नहिं जीव की।
उनसे रहित मिथ्यात्वयुत के, निकट तो कैसे विरति?।।८।।

अर्थ :– जब जिन-वचनों को जानते हुए भी जीवों को संसार से उदासीनता नहीं होती, तब फिर जिन-वचनों से रहित मिथ्यात्व से

ग्रसित जो कुगुरु हैं, उनके निकट संसार से उदासीनता कैसे होगी? अर्थात् नहीं होगी।

भावार्थ :– कितने ही अज्ञानी जीव संसार से छूटने के लिये कुगुरुओं का सेवन करते हैं। उनसे कहते हैं कि वीतरागभाव के पोषक जो जिन-वचन (जैन शास्त्र) हैं, उन्हें जानकर भी कर्म के उदयवश जिसे संसार से वैराग्य नहीं उपजता है, तो फिर रागद्वेष-मिथ्यात्वादिक को पुष्ट करनेवाले जो परिग्रहधारी कुगुरु हैं, उनके निकट रहने से वैराग्य कैसे उत्पन्न होगा? अर्थात् कभी नहीं होगा। अतएव कुगुरु को दूर से ही त्याग देना चाहिये।

ज्ञानी की करुणा

विरयाणं अविरइए, जीवे दट्ठूण होई मणतावो।
हा हा कह भव कूवे, वूडंतापिच्छ णच्चंति।।९।।

इस अविरति को देख हो, मनताप विरति को कभी।
हा! डूबते भव कूप में भी, नाचते ये मूढ़ ही।।९।।

अर्थ :– संयमी जीवों के मन में असंयमी जीवों को देखकर बड़ा सन्ताप होता है कि - हाय! हाय!! देखो तो, संसाररूपी कुए में डूबते हुए भी ये जीव कैसे नाच रहे हैं?

भावार्थ :– अज्ञानी जीव हँस-हँस कर मिथ्यात्व व कषाय के वशीभूत होकर संसार-भ्रमण के कारणरूप कर्म को बाँधते हैं। उन्हें देखकर श्री गुरुओं के हृदय में करुणाभाव उत्पन्न होता है कि - अरे! ये जीव ऐसा कार्य क्यों करते हैं, वीतरागी होने का उपाय क्यों नहीं करते हैं?

मिथ्यात्व ही सब पापों से बड़ा पाप है

आरंभ जम्मि पावे, जीवा पावंति तिक्ख दुक्खाई।
जं पुण मिच्छत्त लवं, तेण वि ण लहंति जिण वोहिं।।१०।।

आरम्भ युत नित पाप से, ये जीव पाते तीव्र दुख।
जिनबोधि को पाते नहीं, यदि शेष है मिथ्यात्व कण।।१०।।

अर्थ :– व्यापारादि आरंभ से उत्पन्न हुआ जो पाप है, उसके प्रभाव से जीव तीव्र नरकादिक दु:ख को प्राप्त करता है; परन्तु यदि मिथ्यात्व का एक अंश भी विद्यमान हो तो जीव सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र–तपमय बोधि को प्राप्त नहीं कर पाता है।

भावार्थ :– कोई जीव व्यापारादि को छोड़कर जिनाज्ञा से विरुद्ध आचरण करता हुआ भी अपने को गुरु मानता है, उससे कहते हैं कि – व्यापारादि के आरम्भ से जो पाप होता है, उससे जीव नरकादिक का दु:ख पाता है, सो उसे कभी न कभी मोक्ष की प्राप्ति हो भी जाती है; परन्तु जिनवाणी के अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व के एक अंश के विद्यमान रहते हुए मोक्षमार्ग की अतिशय दुर्लभता है। इस कारण से मिथ्यात्व सब पापों में महापाप है।

उत्सूत्रभाषी को जिनधर्म की प्राप्ति दुर्लभ है

जिणवर आणा भंगं, उमग्ग उस्सुत्त लेस देसणयं।
आणा भंगे पावं, ता जिणमय दुक्करं धम्मं।।११।।

जो जिनाज्ञा भंग कर, उत्सूत्र उन्मार्गी कथन।
अत्यल्प भी करता यदि तो, फिर न पाए जिनधरम।।११।।

अर्थ :– जिन–आज्ञा का उल्लंघन करके उन्मार्ग, उत्सूत्र का जो अंश मात्र भी उपदेश देता है, वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा–भंग करना है और मार्ग का उल्लंघन कर प्रवर्तना है। तथा जिन–आज्ञा भंग करने में इतना पाप है कि उसे फिर जिनधर्म को पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

भावार्थ :– कषाय के वशीभूत होकर यदि कोई जिनवर की आज्ञा के विरुद्ध एक अक्षर भी कहे, तो उससे इतना पाप होता है कि जिससे वह जीव निगोद चला जाता है। निगोद में जाने के पश्चात् जिनधर्म को प्राप्त करना अतिशय कठिन हो जाता है। इसलिए अपनी पद्धति बढ़ाने के लिये व मानादिक कषाय का पोषण करने के लिये जिनवाणी के विरुद्ध रंचमात्र भी उपदेश देना योग्य नहीं है।

द्रव्यलिंग से मुक्ति नहीं होती

जिणवर आणा रहिअं, वड्ढारंता वि केवि जिणदव्वं।
वुड्डंति भव समुद्दे, मूढ़ा मोहेण अण्णाणी।।१२।।

यदि जिनाज्ञा से रहित हो, जिनद्रव्य के उपयोग में।
तो मोह से हो अज्ञ मूढ़ी, डूबता भव उदधि में।।१२।।

अर्थ :– जिनवर की आज्ञा से रहित होकर कोई मूढ़ पुरुष जिनद्रव्यरूप अर्थात् जिनमार्ग के द्रव्यलिंग रूप दिगम्बर भेष को धारण करता हुआ मिथ्यात्व से अज्ञानी रहता हुआ भवसमुद्र में ही डूबता है।*

भावार्थ :– जिनवर की आज्ञानुसार सम्यग्दर्शनादि धारण किये बिना जिनमार्ग के द्रव्यलिंग को धारण कर लेने मात्र से जीव का कोई कल्याण नहीं होता। मोह (मिथ्यात्व) से अज्ञानी मूढ़ जीव द्रव्यलिंग को धारण कर लेने पर भी संसार में ही भटकता है। इसलिए प्रथम

---

* इसी गाथा का अन्य यह अर्थ और भावार्थ भी प्राप्त होता है–

अर्थ – कई पुरुष जिनाज्ञा रहित जिनद्रव्य अर्थात् मन्दिरजी के द्रव्य को अपने प्रयोग में लेते हैं, वे अज्ञानी मोह से संसार समुद्र में डूबते हैं।

भावार्थ – कई जीव मन्दिरजी के द्रव्य से व्यापार करते हैं और कई उधार लेकर आजीविका करते हैं, वे जिनाज्ञा से पराङ्मुख हैं एवं अज्ञानी हैं। वे जीव महापाप बाँधकर संसार में डूबते हैं।१२। *(दिल्ली से प्रकाशित प्रति)*

सम्यक्त्व ग्रहण करने का उपदेश है। जिनमार्ग में पहिले सम्यक्त्व होता है, पश्चात् मुनिव्रत होता है, ऐसा क्रम है।

कदाग्रही उपदेश का पात्र नहीं

कुग्गह गह गहियाणं, मुद्धो जो देइ धम्म उवएसो।
तो चम्मासी कुक्कर, वयणम्मि खवेई कप्पूरं।।१३।।

नित कदाग्रह से ग्रसित को जो, धर्म का उपदेश दे।
वह चर्मभक्षी श्वान मुख, कर्पूर मानों ज्यों रखे।।१३।।

अर्थ :– खोटे आग्रह रूपी ग्राह (मगर, पिशाच) से ग्रसित जीवों को जो मूर्ख उपदेश देता है, वह मांस खानेवाले कुत्ते के मुख में कपूर रखने जैसी चेष्टा करता है। जिनके तीव्र मिथ्यात्व का उदय है, उन्हें जिनवाणी रुचती नहीं है। इसी प्रकार यह भी जान लेना चाहिए कि जिन्हें जिनवाणी रुचती नहीं है, उनको तीव्र मिथ्यात्व का उदय चल रहा है; वृथा उपदेश क्यों दें?

जिनसूत्रभाषी का क्रोध भी क्षमा है

रोसोवि खमाकोसो, सुत्तं भासंत जस्स धण्णस्स।
उस्सूत्तेण खमावि‍य, दोस महामोह आवासो।।१४।।

जिनसूत्र उपदेशक क्षमा, भण्डार ही है क्रोधयुत।
उत्सूत्र भाषी महामोही, दोषगृह ही क्षमायुत।।१४।।

अर्थ :– जिनसूत्र अनुसार उपदेश देनेवाला उत्तम वक्ता यदि क्रोध करें तो भी वह क्षमा का भण्डार है और जो पुरुष जिनसूत्र से विरुद्ध उपदेश देता है, उसकी क्षमा भी रागादिक दोषों तथा मिथ्यात्वादिक महादोष का स्थान है।

भावार्थ :– कोई सद्वक्ता यथार्थ उपदेश देता है और कारणवश

क्रोध करके भी उपदेश दें, तो उसका क्रोध भी क्षमा है, क्योंकि उसका प्रयोजन जीवों को धर्म में लगाने का है। जो पुरुष अपनी भेंट, पूजा व आजीविका के कारण यथार्थ उपदेश नहीं देता, वह अपना तथा दूसरों का अकल्याण करनेवाला होने से खोटे अभिप्राय के कारण उसकी क्षमा भी दोषरूप ही है।

जिनधर्म ही सच्चा हितैषी है

इक्को वि ण संदेहो, जं जिणधम्मेण अत्थि मोक्ख सुहं।
तं पुण दुव्विण्णेयं, अइ अक्किट्ठ पुण्ण रसियाणं।।१५।।

जिनधर्म से ही मोक्षसुख, इसमें न शंका रंच भी।
अति कष्ट से भी जान यों, उत्कृष्ट धर्मरसिक यही।।१५।।

अर्थ :– 'जैनधर्म के सेवन से मोक्षसुख प्राप्त होता है,' इसमें किसी प्रकार भी सन्देह नहीं है। इसलिए जो पुरुष धर्म के प्रति उत्कृष्ट रस के रसिक हैं, उनके लिये यह जैनधर्म कष्ट सहकर भी जानना योग्य है।

भावार्थ :– जीव का हितकारी एक जैनधर्म ही है। इसलिये अत्यन्त कष्ट सहकर भी इस जैनधर्म का स्वरूप जानना योग्य है। इसके सिवा अन्य लौकिक बातें सीखने में किसी प्रकार से भी आत्महित नहीं है, वे तो कर्म के उदय अनुसार सब के ही बन रही हैं।

जिनधर्म का ज्ञान होना दुर्लभ है

सव्वंपि वियाणिज्जइ, लब्भइ तह चउरिमाय जणमज्झे।
इक्कं पि भाय दुलहं, जिण मयं हि रयणं सुविआणं।।१६।।

है सुलभ लौकिक ज्ञान, चौराहे गिरा निज रत्न भी।
पर जिन कथित सम्यक् धरम, मय रत्न ज्ञान कठिन सही।।१६।।

अर्थ :– लौकिक बातों को तो सभी जानते हैं, चौराहे पर पड़ा

हुआ रत्न भी मिल सकता है; परन्तु हे भाई! जिनेन्द्र-भाषित धर्मरूपी रत्न का सही ज्ञान हो जाना अत्यन्त कठिन है। इसलिए जैसे भी बन सके, वैसे जैनधर्म का स्वरूप जानना योग्य है।

सच्चे वक्ता की प्राप्ति दुर्लभ है

मिच्छत्त वहुल उयरा, विसुद्ध सम्मत्त कहणमवि दुलहं।
जह वर णरवर चरियं, पाव णरिंदस्स उदयम्मि।।१७।।

उत्तम मनुज उत्तम चरित, पापी नृपति के राज्य में।
दुर्लभ कथन ज्यों शुद्ध समकित, का अधिक मिथ्यात्व में।।१७।।

अर्थ :- मिथ्यात्व के तीव्र उदय में विशुद्ध सम्यक्त्व का कथन करना (बात करना) भी उसी प्रकार दुर्लभ हो जाता है, जिस प्रकार पापी राजा का उदय होने पर न्यायवान जीवों का सदाचारपूर्वक रहना दुर्लभ हो जाता है।

भावार्थ :- इस निकृष्ट क्षेत्र, काल में मिथ्यात्व का तीव्र उदय होने से यथार्थ कथन करनेवाले भी दुर्लभ हैं, तो आचरण करनेवालों का तो कहना ही क्या?

उत्सूत्रभाषी वक्ता त्याज्य है

बहुगुण विज्जाणिलयो, उस्सूत्तभासी तहा विमुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो विहुवि, विग्घयरो विसधरो लोये।।१८।।

उत्सूत्रभाषी विविध गुण, विद्याधनी पर त्याज्य है।
ज्यों श्रेष्ठमणियुत विघ्नकारी, सर्प जग में त्याज्य है।।१८।।

अर्थ :- जिनवाणी से विरुद्ध (उल्लंघन करके) उपदेश देनेवाला पुरुष भले ही क्षमादिक बहुत से गुणों और व्याकरणादि अनेक विद्याओं का स्थान हो, तो भी वह उसी प्रकार त्यागनेयोग्य है, जिस

प्रकार लोक में श्रेष्ठ मणि सहित विषधर सर्प भी विघ्नकारी होने से त्याज्य होता है।

भावार्थ :– विद्या आदि का चमत्कार देखकर भी कुगुरुओं का प्रसंग नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वेच्छाचारी उपदेश देनेवाले का उपदेश सुनने से अपने श्रद्धानादिक मलिन हो जाने से बहुत बड़ी हानि होती है।

मोह की महिमा

सय णाणं वा मोहे, लोआ धिप्पंति अत्थ लोहेण।
णो धिप्पंति सुधम्मे, रम्मे हा मोह माहप्पं।।१९।।

नित स्वार्थ वश हो लोभ से, परिजनों को करते ग्रहण।
पर नहीं करते सुखमयी, सद्धर्म महिमा मोह यह।।१९।।

अर्थ :– संसारी जीव प्रयोजन के लोभवश पुत्रादिक स्वजनों से मोह करते हैं; परन्तु हाय! हाय!! यथार्थ सुखकारी जैनधर्म को अंगीकार नहीं करते हैं। यह मोह (मिथ्यात्व) का ही माहात्म्य है।

भावार्थ :– संसारी जीव अपने को सुखी करना चाहते हैं, किन्तु सुख का कारण जो जैनधर्म है, उसका सेवन तो करते नहीं हैं और पापबंध का कारण जो पुत्रादिक से स्नेह है, वह करते हैं। यह मोह का ही माहात्म्य है।

सुख का स्थान धर्म है

गिह वावार परिस्सं, खिण्णाण णराण वीसमट्ठाणं।
एगाण होइ रमणी, अण्णेसिं जिणिंद वर धम्मो।।२०।।

नित घर वणिज श्रम से थकित, इस अज्ञ को बस रमा ही।
विश्रामथल पर विवेकी को, जिनकथित सद्धर्म ही।।२०।।

अर्थ :– गृह-व्यापार के परिश्रम से खेद-खिन्न (थके) कितने ही जीवों का तो विश्राम-स्थान एक स्त्री ही है; परन्तु ज्ञानी जीवों का विश्राम-स्थान तो जिनेन्द्र-भाषित धर्म ही है।

भावार्थ :– अज्ञानी जीव तो स्त्री आदि पदार्थों को ही सुख का कारण मानते हैं; किन्तु ज्ञानी जीव तो वीतराग भावरूप जैनधर्म को ही सुख का कारण मानते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर

तुल्ले वि उअर भरणे, मूढ अमूढाण पच्छ सुविवागं।
एगाण णरय दुक्खं, अण्णेसिं सासयं सुक्खं।।२१।।

है उदर-पोषण तुल्य पर, फल अज्ञ को हो नरक दुख।
देखो! उसी से फल सुदृष्टि, को सदा अविनष्ट सुख।।२१।।

अर्थ :– उदर भरने में समानता होने पर भी ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया व फल में अन्तर तो देखो-एक (अज्ञानी) को नरक का दुःख प्राप्त होता है, तो दूसरे (ज्ञानी) को शाश्वत सुख प्राप्त होता है।

भावार्थ :– अपना उदर भरकर यह पर्याय (आयु) तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही पूरी करते हैं; परन्तु अज्ञानी तो अत्यन्त आसक्तपने के कारण नरक जाता है और ज्ञानी भेदविज्ञान के बल से कर्मों का नाश करके सुखी हो जाता है। अतएव विवेकी (भेद विज्ञानी) होना अति आवश्यक है।

अब संसार से उदास होनेरूप विवेक का उपाय बतलाते हैं:-

ज्ञानी से देशना प्राप्त करना योग्य है

जिणमय कहापवंधो, संवेगकरो जियाण सव्वाणं।
संवेगो सम्मत्ते, सम्मत्तं सुद्ध देसणया।।२२।।

जिन कथित कथा प्रबन्ध है, सबको सदा सम्वेग कर।
सम्वेग हो सम्यक्त्व में, सद्देशना से सद्दरश।।२२।।

अर्थ :– जिनभाषित जो कथाप्रबंध (शास्त्र) हैं, वे सब जीवों को संवेग (संसार से भय एवं धर्म में रुचि) करानेवाले हैं; संवेग, सम्यक्त्व पूर्वक होता है, और सम्यक्त्व शुद्ध देशना (ज्ञानी गुरु का उपदेश) से होता है।

भावार्थ :– शुद्ध निर्ग्रन्थ गुरु के मुख से जिनसूत्र सुने तो श्रद्धान पूर्वक धर्म में रुचि होती है। अश्रद्धानी परिग्रहधारी गुरु के मुख से सुने तो श्रद्धान निश्चल नहीं होता।

श्रद्धानी वक्ता से ही शास्त्र सुनना चाहिए

तं जिण आण परायण, धम्मो सोअव्व सुगुरु पासम्मि।
अह उचिओ सद्धाओ, तस्सुवयेसस्स कहगाओ।।२३।।

अत: जिन–आज्ञा परायण, गुरु से सुनना धरम।
या उचित श्रद्धालु वही, उपदेशदायक से श्रवण।।२३।।

अर्थ :– जो जिन–आज्ञा में प्रवीण तथा बाह्य–आभ्यन्तर परिग्रह रहित हो, ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु के पास से ही शास्त्र–श्रवण करना चाहिए। यदि ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु का संयोग न बने, तो निर्ग्रन्थ गुरुओं के ही उपदेश को कहनेवाले श्रद्धावान श्रावक से धर्म–श्रवण करना चाहिए।

भावार्थ :– शास्त्र–श्रवण की पद्धति रखने के लिये जिस तिस के मुख से शास्त्र नहीं सुनना चाहिए या तो निर्ग्रन्थ आचार्य के निकट सुनना या उनकी आज्ञानुसार कहनेवाले श्रद्धानी श्रावक के निकट सुनना, तब ही सत्यार्थ श्रद्धानरूप फल शास्त्र–श्रवण से मिलेगा, अन्यथा नहीं।

सत्य उपदेश की पहिचान

स कहा सो उवयेसो, तं णाणं जेण जाणइ जीवो।
सम्मत्त मित्थ भावं, गुरु अगुरु लोय धम्मठिदो।।२४।।

उपदेश वार्ता ज्ञान वह ही, ज्ञात हों जिससे सही।
सत् असत् भाव गुरु अगुरु, जगरीति धर्म स्वरूप भी।।२४।।

अर्थ :– वही कथा है, वही उपदेश है, वही ज्ञान है; जिसके द्वारा जीव सम्यक्-मिथ्या भाव को जान ले; गुरु-कुगुरु का स्वरूप जान ले; लोकरीति (मूढ़ता) और धर्म का स्वरूप जान ले।

भावार्थ :– जिनके द्वारा हित-अहित का ज्ञान हो, ऐसे जैन-शास्त्र ही सुनना; अन्य जो रागादिक को बढ़ानेवाले मिथ्या-शास्त्र हैं, वे सुनने योग्य नहीं हैं।

भवितव्यता अलंघ्य है

जिण गुण रयण महाणिहि, लद्धूणवि किं ण जाइ मिच्छत्तं।
अह लद्धेवि विहाणे, कि विणाण पुणो वि दारिद्दं।।२५।।

जिन गुण रतन भण्डार पा, मिथ्यात्व क्यों जाता नहीं।
आश्चर्य बहु वैभव मिले, पर कृपण तो नित निर्धनी।।२५।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान के गुणरूपी रत्नों की महानिधि प्राप्त करके भी मिथ्यात्व क्यों नहीं जाता है? यह महान आश्चर्य है। अथवा निधान (खजाना) पाकर के भी कृपण पुरुष तो दरिद्री ही रहता है। इसमें क्या आश्चर्य है?

भावार्थ :– जिनधर्म को पाकर भी यदि मिथ्यात्व-भाव नहीं चला जाता है, तो बड़ा आश्चर्य है। यहाँ ऐसा समझना कि जिसकी भली होनहार नहीं है, उसका ऐसा ही स्वभाव है। ऐसा जानकर सन्तोष करना।

आगे जिन्होंने सम्यक्त्व होने के कारणरूप धर्म-पर्व स्थापित किये हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं:-

धार्मिक-पर्वों के स्थापकों की प्रशंसा

सो जयउ जेण विहिआ, संवच्छर चाउमासिय सुपव्वा।
णिंदं धयाण जायइ, जस्स महाबाउ धम्ममई।।२६।।

जिन पर्व संवत्सर चतुर्मासिक चलाए वे जिएं।
नित अधार्मिक भी उन दिनों, निज मति धर्ममयी करें।।२६।।

अर्थ :- वे महापुरुष जयवन्त हों, जिन्होंने सांवत्सरिक (वार्षिक) तथा चातुर्मासिक आदि दशलक्षण, अष्टाह्निका आदि धर्म के पर्वों का विधान (प्रारंभ) किया, जिनके प्रभाव से निन्दनीय (पापी) पुरुष भी धर्मबुद्धिवाला हो जाता है।

भावार्थ :- महापापी (आरंभी) जीव भी इन दशलक्षण आदि पर्वों में जिनमन्दिर जाकर धर्म-सेवन करते हैं। इसलिए धर्मपर्वों के कर्त्ता पुरुष धन्य हैं।

आगे, मिथ्यात्व को प्रबल करनेवाले पर्व जिन्होंने रचे, उनकी निन्दा करते हैं:-

हिंसक पर्वों की निन्दा

णामंपि तस्स असुहं, जेण णिद्दिट्ठाइ मिच्छपव्वाई।
जेसिं अणुसंगाओ, धम्मीण वि होइ पावमई।।२७।।

मिथ्या परव के दर्शकों का, नाम लेना भी अशुभ।
उन प्रसंगों में बुद्धि धार्मिक, की भि हो जाती अशुभ।।२७।।

अर्थ :- जिन्होंने हिंसा के कारणरूप ऐसे होली, दशहरा, संक्रान्ति आदि पर्वों की स्थापना की, तथा कन्दमूल आदि का भक्षण और रात्रिभोजन के पोषक ऐसे एकादशी आदि मिथ्यापर्वों की स्थापना

की, उनका तो नाम भी लेना पाप-बन्ध का कारण है; क्योंकि उन मिथ्यापर्वों के अनुषंग से धर्मात्माओं की भी पापबुद्धि हो जाती है अर्थात् धर्मात्मा भी देखादेखी से चंचलबुद्धि हो जाते हैं।

सामान्य-जनों पर संगति का प्रभाव पड़ता है

मज्झट्ठिइ पुण एसा, अणुसंगेण हवंति गुणदोसा।
उक्किट्ठ पुण्ण पावा, अणुसंगेण ण धिप्पंति।।२८।।

अनुसंग से गुण दोष मध्यम, स्थिति वाले बनें।
उत्कृष्ट पाप रु पुण्य हो, सकते नहीं अनुसंग से।।२८।।

अर्थ :- मध्यम स्थितिवाले जीवों को संगति से गुण-दोष हो जाते हैं; परन्तु उत्कृष्ट परिणामवाले जीवों को अनुषंग (संगति) से पुण्य-पाप नहीं होते।*

भावार्थ :- जो जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है, उसे धर्म का निमित्त मिले, तो भी उसकी धर्मबुद्धि नहीं होती। उसी प्रकार जो दृढ़-श्रद्धानी है, उसे पाप का निमित्त मिलने पर भी पापबुद्धि नहीं होती। भोले (मध्यम परिणामवाले) जीवों को जैसा निमित्त मिले, वैसे परिणाम (भाव) हो जाते हैं।

यही बात फिर कहते हैं:-

अइसय पावी जीवा, धम्मिय पव्वेसु ते वि पावरया।
ण चलंति सुद्ध धम्मा, धण्णा कि वि पाव पव्वेसु।।२९।।

हैं घोर पापी धर्म पर्वों, में भी पापों में रहें।
पर पाप पर्वों में भी धर्मी, सद्धरम से नहिं डिगें।।२९।।

---

* इस प्रकार जो गुण और दोष प्रसंग से होते हैं, वे मध्यम स्थितिरूप होते हैं, क्योंकि उत्कृष्ट पुण्य-पाप प्रसंग से नहीं होते। (गाथा २८)

(प्रस्तुत गाथा का दिल्ली प्रति में प्राप्त अर्थ)

अर्थ :– जो अत्यन्त पापी जीव हैं, वे धार्मिक-पर्वों में भी पाप में लीन रहते हैं, और जो शुद्ध धर्मात्मा हैं, वे किसी भी पाप-पर्व में धर्म से चलित नहीं होते।

अब धन को निमित्तवश गुण-दोष का कारण बतलाते हैं:-

लच्छी वि हवइ दुविहा, एगा पुरिसाण खवइ गुणरिद्धिं।
एगाय उल्लंसंती अपुण्ण पुण्णप्प भावाओ।।३०।।

है धन दुविध इक तो मनुज, गुण ऋद्धि नष्ट करे सतत।
पर अन्य पुण्य प्रभाव से, सद्धर्म करता उल्लसित।।३०।।

अर्थ :– लक्ष्मी दो प्रकार की होती है - एक तो विषय-भोगों में लगने से पाप के योग से जीव के सम्यक्त्वादि गुणरूप ऋद्धिओं का नाश करती है; और एक लक्ष्मी ऐसी है, जो दान-पूजादिक पुण्य-कार्यों में लगने से पुण्य के योग से सम्यक्त्वादि गुणरूप पवित्र भावों को उल्लसित करती है। इसलिए पात्र जीव का जो धन विद्या, दान आदि धर्म-कार्यों में लगता है, वही सफल है।

आगे, कई जन दान भी देते हैं, परन्तु कुपात्र के योग से वह दान निष्फल हो जाता है-ऐसा दिखाते हैं:-

दातार की स्तुति करनेवाले भाट हैं

गुरुणो भट्टा जाया, सद्दे थुणि ऊण लिंति दाणइं।
दुण्णिवि अमुणि असारा, दूसम समयम्मि वुड्डंति।।३१।।

वे गुरु भाट हुए वचन से, स्तुति कर दान ले।
दोनों न जानें सार दु:षम, समय भव में डूबते।।३१।।

अर्थ :– इस दु:खम (पंचम) काल में गुरु तो भाट जैसे हो गये हैं, जो शब्दों द्वारा दातार की स्तुति करके दान लेते हैं। ऐसे दाता और

दान लेनेवाले दोनों ही जिनमत के रहस्य से अनभिज्ञ होने से संसार समुद्र में डूबते हैं।

भावार्थ :– दाता तो अपने मानादि कषाय-भावों का पोषण करने के लिये दान देता है, और दान लेनेवाला लोभी होकर दाता में अविद्यमान (अनछते) गुणों को भाट के समान गा-गा कर दान लेता है। इस प्रकार मिथ्यात्व और कषाय पुष्ट करके दोनों ही संसार में डूबते हैं।

यहाँ 'पंचम काल में' कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार स्तुति करके दान लेनेवाले अन्य मत में ब्राह्मण आदि तो पहिले भी थे; परन्तु अब जिनमत में भी भाट के समान स्तुति करनेवाले अनेक भेषधारी भी दान लेनेवाले हो गये हैं, वे इसी निकृष्ट काल में ही हुए हैं।

यथार्थ वक्ता की दुर्लभता

मिच्छपवाहे रत्तो, लोओ परमत्थ जाणओ थोओ।
गुरुणो गारव रसिया सुद्धंमग्गं णिगूहंति।।३२।।
मिथ्या प्रवाह निमग्न जग, परमार्थ कुछ ही जानते।
गुरु हुए गारव के रसिक, नित शुद्ध मार्ग विलोपते।।३२।।

अर्थ :– लोग तो मिथ्यात्व के प्रवाह में डूबे हैं, उनमें से परमार्थ को जाननेवाले तो बहुत थोड़े हैं और गुरु कहलानेवाले अपना मान चाहते हैं, इसलिए वे शुद्ध-मार्ग को छिपाते हैं।

भावार्थ :– धर्म का स्वरूप गुरु के उपदेश से जानने में आता है; परन्तु इस काल में जो गुरु कहलाते हैं, वे अपनी महिमा और विषयों में आसक्त होने से यथार्थ धर्म का स्वरूप नहीं कहते हैं। इसलिए जैनधर्म की दिनोंदिन अवनति हो रही है।

देव-गुरु का यथार्थ स्वरूप पाना कठिन

सव्वो वि अरहदेवो, सुगुरु गुरु भणइ णाम मित्तेण।
तेसिं सरूव सुहयं, पुण्ण विहूणा ण पावंति।।३३।।

अरहन्त देव सुगुरु गुरु, यह नाममात्र सभी कहें।
पर सुखमयी स्व रूप उनका, पुण्य हीन न पा सकें।।३३।।

अर्थ :- अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु - ऐसा नाममात्र तो सब कहते हैं, परन्तु उनका यथार्थ सुखमय स्वरूप भाग्यहीन जीवों को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :- नाममात्र तो अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु ऐसा श्वेताम्बर आदि भी कहते हैं, परन्तु उनका यथार्थ स्वरूप नहीं जानते। इसलिए जिनवाणी के अनुसार अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु का अवश्य ही निर्णय करना चाहिए। इस कार्य में भोला रहना योग्य नहीं है।

ज्ञानी वक्ता पापियों को सिरदर्द हैं

सुद्धा जिण आणइया, केसिं पावाण हुंति सिरसूलं।
जेसिं तं सिरसूलं केसिं मूढा ण ते गुरुणो।।३४।।

नित पापिओं को शुद्ध जिन, आज्ञारती सिर दर्द सम।
लगते किन्हीं को मूर्ख गुरु, वे भासते सिर दर्द सम।।३४।।

अर्थ :- जिनराज की शुद्ध आज्ञा में तत्पर रहनेवाले पुरुष कितने ही पापी जीवों को सिरशूल के समान हैं, क्योंकि यथार्थ जिनधर्मी के पास मिथ्यादृष्टियों के मत चल नहीं पाते, इसीलिए वे उन्हें अनिष्ट लगते हैं। उन मूर्ख जीवों को वे ज्ञानी 'गुरु' नहीं, सिरशूल के समान लगते हैं।

भावार्थ :- जो जीव मिथ्यादृष्टियों को गुरु मानते हैं, वे यथार्थ

श्रद्धावान को कुगुरु मानते हैं तथा उन्हें यथार्थ मार्ग का लोप करनेवाले अनिष्ट समझते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टियों का संयोग जीवों को कभी न हो।

केवली की अनुपस्थिति पर आचार्य को खेद है

हा हा गुरुय अकज्जं, सामी णहु अत्थि कस्स पुक्करिमो।
कह जिण वयण कह सुगुरु, सावया कहय इदि अकज्जं।।३५।।

हा! हा!! महा अन्याय, स्वामी नहीं किसको पुकारें।
जिन वचन कैसे? गुरु कैसे? कैसे श्रावक? बताएं।।३५।।

अर्थ :– हाय! हाय!! महा अनर्थ है कि आज कोई राजा प्रगट नहीं है, हम किसके पास जाकर पुकारें (पूंछें) कि जिनवचन क्या हैं? सुगुरु कैसा होता है? श्रावक कैसे होते हैं? यह बड़ा अकार्य-अन्याय है।

भावार्थ :– जिनवाणी में तो जिसके पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह न हो ऐसे परिग्रह रहित को ही श्रीगुरु कहा गया है। सम्यक्त्व आदि धर्म के धारक को श्रावक कहा गया है। परन्तु इस पंचम काल में आज तो गुरु गृहस्थों से भी अधिक परिग्रह रखे हुए हैं और अपने को गुरु मनवाते हैं। उसी प्रकार देव-गुरु-धर्म का व न्याय-अन्याय का तो ठीक निर्णय ही नहीं है; फिर भी अपने को श्रावक मानते हैं - सो यह बड़ा भारी अन्याय-अकार्य है। अरे रे! न्याय करनेवाला कोई नहीं है, किससे कहें? इस प्रकार आचार्य ने खेद प्रगट किया है।

कुगुरु सर्प से भी अधिक कष्टदायी है

सप्पे दिट्ठेणासई, लोओ णहु किंपि कोई अक्खेई।
जो चयइ कुगुरु सप्पं, हा मूढा भणइ तं दुट्ठं।।३६।।

यदि सर्प देख हटें वहाँ से, लोग कुछ भी नहिं कहें।
पर कुगुरु रूपी सर्प छोड़ें, मूढ़ दुष्ट उसे कहें।।३६।।

अर्थ :– अरे रे! लोग सर्प को देखकर दूर भागते हैं, उनको तो कोई कुछ भी नहीं कहता है; परन्तु जो कुगुरुरूपी सर्प को छोड़ देते हैं, उन्हें मूर्ख लोग दुष्ट कहते हैं। यह बड़े खेद की बात है।

भावार्थ :– जो कुगुरु हैं, वे सर्प से भी अधिक दुष्ट हैं। सर्प का त्याग करनेवाले को तो सभी लोग अच्छा कहते हैं और जो कुगुरु को त्यागता है, उसे मूर्ख लोग निगुरा, गुरुद्रोही, दुष्ट इत्यादि वचनों से सम्बोधित करते हैं। सो यह बड़ा खेद है।

अब कुगुरु में सर्प से भी अधिक दोष क्या है? वह कहते हैं:-

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु अणंताई देइ मरणाई।
तो वर सप्पं गहिअं, मा कुरु कुगुरु सेवणं भद्दं।।३७।।

हो अहि डसे से एक मृत्यु, अनन्तों मृत्यु कुगुरु।
से अत सर्प ग्रहण भला, पर भला नहिं सेवन कुगुरु।।३७।।

अर्थ :– सर्प का काटा तो एक बार ही मरण को प्राप्त होता है, परन्तु कुगुरु के सेवन से मिथ्यात्वादिक की पुष्टि होने से नरक-निगोदादिक में जीव अनन्त बार मरण को प्राप्त होता है। इसलिए हे भद्र! सर्प का संग भला है, परन्तु कुगुरु का सेवन भला नहीं है। तू वह मत कर।

अज्ञान की महिमा

जिण आणा वि चयंता, गुरुणो भणिऊण जे णमस्संति।
तो किं कीरई लोओ, छलिओ गड्डरि पवाहेण।।३८।।

जो जिनाज्ञा को छोड़, गुरु कह नमन करते हैं उन्हें।
ठग गए लौकिक भेड़चाल, प्रवाह से वे क्या करें?।।३८।।

अर्थ :– जिनराज की आज्ञा तो यह है कि कुगुरु का सेवन नहीं

करो, उन्हें छोड़ दो। फिर भी जिनाज्ञा से भ्रष्ट कुगुरु को भी जो गुरु कहकर नमस्कार करते हैं, वे बेचारे क्या करें? भेड़चाल से ठगाये गये हैं।

भावार्थ :– जैसे एक भेड़ कुए में गिरती है, तो उसके पीछे-पीछे चली आनेवाली सभी भेड़ें कुए में गिरती जाती हैं, कोई हित-अहित का विचार नहीं करतीं। उसी प्रकार कोई अज्ञानी जीव कुगुरु को मानता है तो उसकी देखादेखी सभी लोग उसे गुरु मानने लग जाते हैं, कोई गुणदोष का विचार नहीं करता। यह अज्ञान की महिमा है।

मोह की महिमा

णिद्दखिण्णो लोओ, जइ कुवि मग्गेइ रुट्टिया खंडं।
कुगुरुसंणग वयणे, दक्खिणं हा महामोहो।।३९।।

रोटी का टुकड़ा माँगता, तो उसे जन मूरख कहें।
हा मोहमहिमा! विविध, परिग्रह माँग कुगुरु चतुर हैं।।३९।।

अर्थ :– यदि कोई रोटी का टुकड़ा भी माँगता है तो लोक में उसे प्रवीणता रहित बावला कहते हैं; परन्तु कुगुरु अनेक प्रकार के परिग्रह की याचना करता है तो भी लोग उसे प्रवीण कहते हैं। सो हाय! हाय!! यह मोह का ही माहात्म्य है।

कुगुरु पर ज्ञानी की करुणा

किं भणिमो किं करिमो, ताण हआसाण धिट्ठ दुट्ठाणं।
जे दंसिऊण लिंगं, खिंचंति णरयम्मि मुद्धजणं।।४०।।

अविवेकि द्वेषी दुराग्रह युत, कुगुरु वेष दिखा नरक।
में डालते इन अज्ञजन को, क्या कहें क्या करें हम?।।४०।।

अर्थ :– आचार्य कहते हैं कि अरे! उन कुगुरुओं को हम क्या कहें? और क्या करें? वे कुगुरु मुनि का बाह्य-भेष दिखाकर भोले

जीवों को नरक में खींचे ले जाते हैं। वे कुगुरु कैसे हैं? जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है अर्थात् कार्य-अकार्य के विवेक से रहित हैं तथा लज्जा रहित हैं और वे जैसे चाहे बोलते हैं, अत: ढीठ हैं, और धर्मात्माओं के प्रति द्वेष रखते हैं, अत: दुष्ट हैं।

भावार्थ :- कुगुरु अपने मिथ्याभेष से भोले जीवों को ठगाकर कुगति में ले जाते हैं।

मिथ्यात्व के उदय की पहिचान

कुगुरु विसंसि मोहं, जेसिं मोहाइ चंडिमा दट्ठं।
सुगुरूण उवरि भत्ती, अइ णिवडा होई भव्वाणं।।४१।।

अति तीव्रतम मोही करें, भक्ति प्रशंसा कुगुरु की।
पर भव्य करते सुगुरु से, अति प्रीति भक्ति नित्य ही।।४१।।

अर्थ :- जिनके मिथ्यात्वादि मोह का तीव्र उदय है, उन्हें कुगुरुओं के प्रति भक्ति-वंदनारूप अनुराग होता है और भव्यजीवों को बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह रहित सुगुरु के प्रति ही तीव्र प्रीति होती है।

भावार्थ :- जो जीव जैसा होता है, उसे वैसे ही जीव के साथ प्रीति होती है। जो तीव्र मोही मिथ्यादृष्टि कुगुरु है, उसके प्रति तो मिथ्यादृष्टियों को ही प्रीति होती है और वीतरागी सुगुरुओं के प्रति मंदमोही जीवों को प्रीति होती है। ऐसा जानना।

सम्यक्त्व के उदय की पहचान

जह जह उट्ठइ धम्मो, जह जह दुट्ठाण होइअइ उदओ।
सम्मादिट्ठि जियाणं, तह तह उल्लसइ सम्मत्तं।।४२।।

ज्यों ज्यों धरम की हानि, दुष्टों की अधिकता हो प्रगट।
त्यों त्यों सुदृष्टि का धरम, सम्यक्त्व हो अति उल्लसित।।४२।।

अर्थ :- जैसे-जैसे जैनधर्म क्षीण होता जाता है तथा जैसे-जैसे

दुष्टों का उदय बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व उल्लसित होता जाता है।

भावार्थ :- इस निकृष्ट काल में जैनधर्म की अवनति और मिथ्यादृष्टियों की संपदा की वृद्धि देखकर दृढ़ श्रद्धानी जीवों को कभी भी ऐसी भावना नहीं होती है कि इन मिथ्यादृष्टियों का धर्म अच्छा है; किन्तु उलटा श्रद्धान निर्मल होता जाता है कि यह तो काल का दोष है, भगवान ने ऐसा ही कहा है।

पाप के उदय की पहचान

जइ जंतु जणणि तुल्ले, अइ उदयं जं ण जिणमए होई।
तं किट्ठ काल संभव, जिआण अइ पाव माहप्पं।।४३।।

जग जीव रक्षक मात सम, जिनधर्म की नहिं उन्नति।
यह हीन कालज जीव का, अति पापोदय माहात्म्य ही।।४३।।

अर्थ :- छह काय के जीवों की रक्षा करने में माता के समान ऐसा जो जैनधर्म, उसमें भी यदि अधिक उन्नति नहीं होती है तो वह इस निकृष्ट काल में जन्मे हुए जीवों का अति पापोदय का ही माहात्म्य है।

भावार्थ :- इस निकृष्ट काल में भाग्यहीन जीव उत्पन्न होते हैं। उन्हें जिनधर्म की प्राप्ति दुर्लभ है। इसीलिए दिनोंदिन जैनधर्म की अवनति दिखाई दे रही है; परन्तु जैनधर्म किसी प्रकार भी हीन नहीं है।

मिथ्यादृष्टि की पहिचान

धम्मम्मि जस्स माया, मिच्छत्त, गाहा उस्सूत्ति णो संका।
कुगुरु वि करइ सुगुरु, दिउसो वि सपाव पुण्णोत्ति।।४४।।

जो धर्म में माया असत्, गाथार्थ उत्सूत्री निडर।
माने कुगुरु को सुगुरु, पापोदय को पावन धी असत्।।४४।।

अर्थ :– जिन जीवों को धर्म के विषय में छल है, धर्म के किसी अंग का सेवन करता है, उससे अपनी ख्याति, लाभ–पूजादिक की चाह का भाव रखता है; गाथा–सूत्रों का अर्थ मिथ्या बोलने में भय नहीं है, गाथा–सूत्रों का यथार्थ अभिप्राय तो जानता नहीं है, उलटा मिथ्या अभिप्राय ग्रहण करता है; उत्सूत्र अर्थात् शास्त्र से विरुद्ध बोलने में जिसे शंका (भय) नहीं होती, मन में जैसा आवे, वैसा बोलता है और पक्षपातवश कुगुरु को सुगुरु बतलाता है; तथा पाप के उदय (समय) को पुण्य का उदय कहता है। ऐसे जीव मिथ्यादृष्टि हैं।

आगे, धर्म–कार्य भी यदि जिनाज्ञा से बाहर करें तो उसमें भी दोष दिखलाते हैं:–

प्रत्येक धर्म–कार्य भी मर्यादित होना चाहिए

किच्चंपि धम्म किच्चं, पूयापुमुहं जिणिंद आणाए।
भूअ मणुग्गह रहियं, आणा भंगादु दुहदायं।।४५।।

करणीय पूजादि धरम भी, जिनाज्ञा अनुसार ही।
हैं अयत्नाचारी सभी, नाशक जिनाज्ञा दुखद ही।।४५।।

अर्थ :– करने योग्य जो पूजा–प्रतिष्ठा आदि धर्म–कार्य हैं, वे भी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा–प्रमाण ही यथार्थ करने योग्य हैं, क्योंकि यत्नाचार रहित कार्य हैं, सो जिनाज्ञा बाह्य होने से दुखदायक ही हैं।

भावार्थ :– पूजनादि कार्यों का विधान जिस प्रकार से करने के लिये जिनवाणी में कहा है, उसी प्रमाण यत्नाचार सहित करना चाहिए। वे कार्य भी अपनी बुद्धि अनुसार यद्वा तद्वा करने योग्य नहीं हैं।

मिथ्यात्व ही संसार का कारण है

कट्ठं करोदि अप्पं, दमंति दव्वं चयंति धम्मत्थी।
इक्कं ण चयंति मिच्छत्तं, विसलवं जेण कुड्डंति।।४६।।

धर्मार्थ कोई कष्ट सह, आतम दमें छोड़ें दरव।
पर डूबते यदि नहीं छोड़ें, एक विष मिथ्यात्व लव।।४६।।

अर्थ :– कोई धर्म का इच्छुक होकर कष्ट सहता है, आत्मा का दमन करता है, द्रव्यों का त्याग भी करता है; परन्तु मिथ्यात्वरूपी विष का एक कण भी नहीं छोड़ता है तो इसी कारण वह संसार में डूबता है।

भावार्थ :– कोई धर्म का इच्छुक होकर उपवासादि कार्य भी करता है; परन्तु सच्चे देव–गुरु–धर्म की व जीवादि तत्त्वों की श्रद्धा का कोई ठिकाना नहीं है तो उससे कहते हैं कि सम्यक्त्व के बिना समस्त कार्य यथार्थ फल देनेवाले नहीं हैं। इसलिए प्रथम जिनवाणी अनुसार श्रद्धान ठीक करना चाहिए।

जैसी संगति, वैसा फल

सुद्धविहि धम्मराओ, वड्ढई सुद्धाण संगमे सुअणे।
सोवि य असुद्ध संगे, णिउ णाण विगलइ अणुदीहं।।४७।।

नित शुद्ध विधियुत धर्म राग, बढ़े सुदृष्टि संग से।
पर वही प्रतिदिन घटे दक्षों, का भि मिथ्या संग से।।४७।।

अर्थ :– निर्मल श्रद्धावान सज्जनों की संगति से निर्मल आचरण सहित धर्मानुराग बढ़ता है; और मिथ्यादृष्टियों की संगति से वह धर्मानुराग तथा ज्ञान प्रतिदिन घटते हुए क्षीण हो जाता है।

भावार्थ :– जैसी संगति मिलती है, वैसे ही गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिए अधर्मी पुरुषों की संगति छोड़कर धर्मात्मा पुरुषों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व का मूल कारण यही है।

धर्मात्माओं की संगति ही करने योग्य है

जो सेवई सुद्ध गुरु, असुद्ध लोआण सो महासत्तू।
तम्हा ताण सयासे, वल रहिओ मा वसिज्जासु।।४८।।

जो सद्गुरु सेवी, महाशत्रु लगें वे अज्ञ को।
इससे नहीं उनके निकट, रहना यदि बलहीन हो।।४८।।

अर्थ :– जो पुरुष बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह-रहित शुद्ध गुरु का सेवक है, वह मिथ्यादृष्टि जीवों का महाशत्रु है। इसलिए उसे मिथ्यादृष्टियों के निकट बलरहित होकर नहीं रहना चाहिए।

भावार्थ :– जहाँ मिथ्यादृष्टियों का बहुत जोर हो, वहाँ धर्मात्मा पुरुषों को रहना उचित नहीं है; उन्हें तो जिनधर्मियों की संगति में रहना ही उचित है।

धर्म और धर्मात्माओं की अवनति का कारण

समयविओ असमत्था, सुसमत्था लत्थ जिणमए अविओ।
तत्थ ण वड्ढइ धम्मो, पराहवं लहइ गुणरागी।।४९।।

हों जहाँ असमर्थ जिनमतविज्ञ अज्ञ समर्थ हों।
हो नहीं वृद्धि धर्म की, धार्मिक पराभव प्राप्त हों।।४९।।

अर्थ :– जहाँ जैन सिद्धान्त का ज्ञाता गृहस्थ तो कमजोर हो और अज्ञानी विशेष शक्तिवाला हो, वहाँ धर्म की उन्नति नहीं होती और धर्मात्मा जीव भी अनादर (पराभव) प्राप्त करता है।

भावार्थ :– जहाँ कोई जिनवाणी का मर्म नहीं जानता हो, वहाँ पर रहना उचित नहीं है।

धर्मात्माओं को पीड़ा के कारण भ्रष्ट धनिक

जं ण करइ अइ भावं, अमग्गसेवी समत्थओ धम्मे।
ता लद्धं अह कुज्जा, ता पीडइ सुद्ध धम्मत्थी।।५०।।

उन्मार्गसेवी धनी का अति, राग नहिं जिनधर्म में।
तो व्यर्थ धन व्यय करे, सद्धर्मार्थिओं को कष्ट दे।।५०।।

अर्थ :– जो धनादि संपदा से युक्त होने पर भी कुमार्गी (भ्रष्ट) जीव धर्म में अत्यन्त अनुराग नहीं करता, वह अपने धन को निष्फल गंवाता है, और शुद्ध धर्म के इच्छुक जीवों को पीड़ा (कष्ट) देता है।

धर्मात्माओं के अनादर का कारण मिथ्यावादी

जइ सव्व सावयाणं, एगत्तं जंति मिच्छ वायम्मि।
धमत्थि आण सुन्दर, ता कहण पराहवं कुज्जा।।५१।।

एकान्तयुत मिथ्या कथनमय अधर्मी सब श्रावकों।
में हीन करने हेतु यत्न, करें सुधर्मि प्रभाव को।।५१।।

अर्थ :– समस्त श्रावक समूह में मिथ्या कथन में एकांत को प्राप्त जो मिथ्यावादी हैं, वे पुरुष धर्म में स्थित धर्मात्माओं के प्रभाव का पराभाव (अनादर) करने को उद्यमी होते हैं।

धर्मात्माओं के सहायक प्रशंसा योग्य हैं

तं जयइ पुरिस रयणं, सुगुणट्ठं हेमगिरि वर महग्घं।
जस्सासयम्मि सेवइ, सुविहि रउ सुद्ध जिण धम्मं।।५२।।

बहुमूल्य हेमगिरी समान, महान सुगुणी नर रतन।
जिनधर्म सेवी सदाचारी, के सहारे जिएं नित।।५२।।

अर्थ :– जिनके आश्रय से भले आचरण में तत्पर होकर निर्मल जिनधर्म की सेवा होती है, ऐसे पुरुषरत्न पुरुषोत्तम जयवंत हों। कैसे हैं वे सत्पुरुष? सम्यग्दर्शन आदि उत्तमोत्तम गुणों के धारक हेमगिरि (स्वर्ण के मेरु पर्वत) समान अमूल्य हैं।

भावार्थ :– जिनकी सहायता से जिनधर्मी भाई धर्म-सेवन करें, वे पुरुष धन्य हैं।

ज्ञानवृद्धि में सहायक ही महान है

सुरतरु चित्तामणिणो, अग्घंण लहंति तस्स पुरिसस्स।
जो सुविहि रय जणाणं, धम्माधारं सया देई।।५३।।

जो सदाचारी धार्मिक को, शरणदाता हैं सदा।
वे धर्मधारी कल्पतरु, चिन्तामणी से भी महा।।५३।।

अर्थ :– जो पुरुष शास्त्र स्वाध्याय आदि भले आचरण करनेवाले जीवों को सदाकाल धर्म का आधार देता है और उनका निर्विघ्न शास्त्र स्वाध्याय होता रहे, ऐसी सामग्री का मेल मिलाता रहता है, उस पुरुष का मूल्यांकन कल्पवृक्ष या चिन्तामणि रत्न से भी नहीं हो सकता है अर्थात् वह पुरुष उनसे भी महान है।

साधर्मियों की सहायता, मोह गलाने का कारण है

लज्जंति जाणि मोहं, सप्पुरिसाणि अय णाम गहणेण।
पुणि तेसिं कित्तणाओ, अह्माण गलंति कम्माई।।५४।।

मैं जानता सत्पुरुष नामस्मरण से लज्जा सहित।
हो मोहमन्द गुणानुवादों, से करम होते गलित।।५४।।

अर्थ :– मैं ऐसा जानता हूँ कि जिनधर्मियों की सहायता करनेवाले पुरुषों का नाम लेने मात्र से मोहकर्म लज्जायमान होकर मन्द पड़ जाता है और उनके गुणगान करने से हमारे कर्म गल जाते हैं।

कषायी और कीर्तिइच्छुक के धर्म का अभाव है

आणा रहिअं कोहाइ, सजुअं अप्पसंसणत्थं च।
धम्मं सेवंताणं, णयकित्ती णेय धम्मं च।।५५।।

जो जिनाज्ञा रहित क्रोधादि सहित निज प्रशंसा।
हेतु धरम करता मिले, न यश न हो धर्मात्मा।।५५।।

अर्थ :– जो जीव जिनेन्द्र भगवान की आज्ञारहित क्रोधादि कषायोंसहित अपनी प्रशंसा के लिए धर्म-सेवन करता है, उसे न तो यश ही मिलता है और न ही उसे धर्म होता है।

भावार्थ :– जो जीव अपनी बड़ाई आदि के लिए धर्म का सेवन करते हैं, उन्हें उलटी कुबड़ाई मिलती है; और कषाय संयुक्त होने से धर्म भी नहीं होता है। अत: धर्म का सेवन निरपेक्ष होकर ही करना चाहिए।

उत्सूत्रभाषी को धिक्कार है

इयरजण संसणाए, धिद्धी उस्सूत्त भासिए ण भयं।
हा हा ताण णराणं, दुहाइजइ मुणइ जिणणाहो।।५६।।

उत्सूत्र भाषण में निडर, जो प्रशंसा के हेतु से।
धिक्कार! हा! हा! सहेंगे वे, घोर दुख प्रभु जानते।।५६।।

अर्थ :– इतरजनों से प्रशंसा चाहने के लोभ से–मुझे सब अच्छा कहेंगे – इस अभिप्राय से जो जिनसूत्रों के विरुद्ध बोलने से नहीं डरते हैं, उन्हें धिक्कार है। हाय! हाय!! उन जीवों को पर भव में जो दु:ख होंगे वे केवली भगवान ही जानते हैं।

भावार्थ :– थोड़े दिनों की मान बड़ाई के लिये जो जीव मूर्खों के कहने से जिनसूत्र से विरुद्ध उपदेश देता है, वह अनंतकाल तक निगोदादिक का दु:ख पाता है। इसलिए जिनसूत्र के अनुसार यथार्थ उपदेश देना योग्य है।

उत्सूत्रभाषी को सम्यग्दर्शन का अभाव है।

उस्सुत्त भासियाणं, वोही णासो अणंत संसारी।
पाणव्वएवि धीरा, उस्सूत्तंता ण भासंती।।५७।।

उत्सूत्र भाषी नाश बोधि, दीर्घ संसारी बनें।
जो प्राण जाने पर भि नहिं, उत्सूत्रभाषी धीर वे।।५७।।

अर्थ :– जो जीव जिनसूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देता है,

उसके सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति रूप बोधि का नाश हो जाता है और अनंत संसार बढ़ जाता है। इसलिए धीर पुरुष तो प्राण चले जायें तो भी कदापि जिनसूत्र से विरुद्ध नहीं बोलते।

मिथ्यादृष्टि प्रशंसा के योग्य नहीं है

मुद्धाण रंजणत्थं, अविहिय तं संकथापि ण करिज्जं।
किं कुल बहुणो कत्थवि, थुणंति वेस्साण चरियाइं।।५८।।

है नहिं प्रशंसा-योग्य, मिथ्याचार रंजन हेतु भी।
अति अज्ञ के क्या सती, स्तुति करे वेश्याचार की?।।५८।।

अर्थ :- मूर्खों को प्रसन्न करने के लिए मिथ्यादृष्टियों के विपरीत आचरण की प्रशंसा करना कदापि योग्य नहीं। क्या कुलवधु कभी वेश्या के चरित्र की प्रशंसा करती है? कभी नहीं।

ज्ञानी को सदाकाल जिनाज्ञा-भंग करने का भय रहता है

जिण आणा भंगभयं, भवभय भीआण होई जीवाणं।
भवभय अभीरुयाणं, जिण आणा भंजणं क्रीडा।।५९।।

हैं जिनाज्ञा के भंग से, भयभीत भव से भीत ही।
भवभय रहित को जिनाज्ञा, भंजन लगे बस खेल ही।।५९।।

अर्थ :- जो जीव संसारभय से भयभीत हैं, उन्हें जिनराज की आज्ञा-भंग करने का बहुत भय रहता है; और जिन्हें संसार-भय नहीं है, उन्हें तो जिन-आज्ञा भंग करना खेल-मात्र है।

कर्मोदय की प्रबलता

को असुआणं दोसो, जं सुअसुहियाण चेयणा णट्ठा।
धिद्धि कम्माण जओ, जिणो वि लद्धो अलद्धत्ति।।६०।।

कर्मोदयों से नष्टधी, शास्त्रज्ञ भी दुश्चरणयुत।
धिक्! अज्ञ का क्या दोष? प्राप्त जिनेन्द्र भी अप्राप्तवत्।।६०।।

अर्थ :– जब जिनवाणी समझनेवाले भी बुद्धि नष्ट हो जाने पर कर्मोदयवश अन्यथा आचरण करने लगते हैं, तब जिन्हें शास्त्र का ज्ञान ही नहीं है, उन्हें क्या दोष दें? अरे! कर्मोदय को धिक्कार हो! धिक्कार हो!! क्योंकि उसके वश होने पर जीव को जिनदेव की प्राप्ति भी अप्राप्ति समान ही है।

भावार्थ :– जैनकुल में उत्पन्न हुए कितने ही जीव नाम मात्र के ही जैनी कहलाते हैं, किन्तु वे जिनदेव के यथार्थ स्वरूप को जानते ही नहीं हैं; और कितने ही जीव शास्त्राभ्यास तो करते हैं, परन्तु वे भी अच्छी तरह से उपयोग लगाकर देव आदि के स्वरूप का निर्णय नहीं करते हैं। सो यह उनके तीव्र पाप का ही उदय है, जो यथार्थ निमित्त (जिनदेव का) मिलने पर भी वे जिनमत का सच्चा स्वरूप नहीं पा सके।

धर्मात्माओं का उपहास करना उचित नहीं है

इयराण वि उवहासं, तमजुत्तं भाय कुलप सूआणं।
एस पुण कोवि अग्गी, जं हासं सुद्ध धम्मम्मि।।६१।।

उपहास करना दूसरों का, नहीं योग्य कुलीन को।
यह कौन सी रीति करो, उपहास सद्धर्मी कहो?।।६१।।

अर्थ :– हे भाई! जो बड़े कुल में उत्पन्न हुए पुरुष हैं, उनका तथा अन्य किसी का भी उपहास करना उचित नहीं है; फिर तुम्हारी यह कौन-सी रीति है कि शुद्ध स्वधर्मियों का भी उपहास करते हो?

भावार्थ :– हास-उपहास करना तो सर्वत्र ही पाप है। जो जीव धर्म में भी हास्य करते हैं, उन्हें महापाप होता है।

सज्जन पुरुषों का स्वभाव

दोसो जिणिंद वयणे, संतोसो जाण मिच्छपावम्मि।
ताणं पि सुद्ध हियआ, परं हियं दाउ मिच्छंति।।६२।।

जिनवचन में है द्वेष, मिथ्या-पाप में सन्तुष्ट हैं।
सज्जन उन्हें भी शुद्ध मन से, परम हित वार्ता चहैं।।६२।।

अर्थ :- जिनको जिन-वचनों के प्रति द्वेष है और मिथ्यात्व पाप में हर्ष होता है, ऐसे जीवों को भी शुद्ध हृदयी (निर्मल चित्तवाले) सत्पुरुष परम हित की बात सुनाने की इच्छा रखते हैं।

भावार्थ :- सज्जन पुरुष तो मिथ्यादृष्टियों का भी भला होने का उपदेश देते हैं; परन्तु उनका भला होना तो भवितव्य के आधीन है।

सज्जनपना सम्यग्दृष्टि का स्वभाव है

अहवा सरल सहावा, सुअणा सव्वत्थ हुंति अवियप्पा।
छंडंति विषभराणवि, कुणंति करुणा दुहा हाणं।।६३।।

धर्मी सरल स्व भाव से, सर्वत्र समभावी रहें।
वे विष उगलते सर्प पर भी, दया करुणा नित करें।।६३।।

अर्थ :- अथवा, सरल स्वभावी सज्जन पुरुष सभी जीवों के प्रति समान भाव रखते हैं, किसी का भी बुरा नहीं विचारते। विषसमूह को उगलते हुए सर्प के प्रति भी दयाभाव रखते हैं। ऐसा सज्जनपना सम्यग्दृष्टियों में ही होता है।

सम्यग्दर्शन की दुर्लभता

गिहि वावार विमुक्को, वहु मुणि लोए वि णत्थि सम्मत्तं।
आलंवण णिलयाणं, सद्धाणं भाय किं भणिमो।।६४।।

घर वणिज त्यागी अनेकों मुनि, भी रहित सम्यक्त्व से।
है गृहस्थी में लीन को, सम्यक्त्व दुर्लभ; क्या कहें?।।६४।।

अर्थ :- हे भाई! गृह-व्यापार रहित ऐसे बहुत से मुनियों को भी सम्यक्त्व नहीं होता, तो घर-व्यापार में लीन गृहस्थों को हम क्या कहें? उन्हें सम्यक्त्व होना तो महा दुर्लभ है।

भावार्थ :– कई अज्ञानी जीव अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर अभिमान करते हैं, उनसे आचार्य कहते हैं – हे भाई! पंच महाव्रत के धारी मुनि भी आपा–पर को जाने बिना द्रव्यलिंगी ही रहते हैं, तो फिर गृहस्थों की तो बात ही क्या कहें? इसलिए जिनवाणी के अनुसार तत्त्व–विचार में उद्यमी रहना योग्य है। थोड़ा–सा ज्ञान करके अपने को सम्यक्त्वी मानकर प्रमादी होना योग्य नहीं है।

उत्सूत्रभाषी तपस्वी भी संसारी है

ण सयं ण परं कोवा, जइ जिअ उस्सुत्त भासणं विहिअं।
ता वुड्डसि णिज्झंतं, णिरत्थयं तव कुडाडोवं।।६५।।

निज पर हितों से रहित, यदि उत्सूत्र भाषण तुम करो।
तो तपाडम्बर व्यर्थ है, भव में नियम से मग्न हो।।६५।।

अर्थ :– जिसमें अपना और पर का थोड़ा भी हित नहीं है, ऐसे जिनवचनों से विरुद्ध कथन करना यदि तूने प्रारंभ कर दिया है–तो हे जीव! नि:सन्देह तू भवसमुद्र में डूब गया और तेरा समस्त तपश्चरण आदि करना वृथा घटाटोप है।

भावार्थ :– कितने ही जीव उपवास व्रतादि तपश्चरण तो करते हैं, परन्तु जिनवचनों का श्रद्धान नहीं करते हैं; अतएव उनका समस्त आडंबर वृथा है। अत: सम्यक्त्व पूर्वक ही क्रिया करने योग्य है।

जिनवचन सम्यक्चारित्र का कारण है

जह जह जिणिंद वयणं, सम्मं परिणमई सुद्धहिययाणं।
तह तह लोयपवाहे, धम्मं पडिहाइण दुच्चरियं।।६६।।

जिन वचन ज्यों ज्यों समझते, शुद्ध हृदयी वास्तविक।
त्यों जगप्रवाह दुराचरण, छूटे प्रवृत्ति धार्मिक।।६६।।

अर्थ :– शुद्ध हृदयवाले पुरुषों को जैसे-जैसे जिनवचन भली प्रकार समझ में आते जाते हैं। वैसे-वैसे उनका धर्म प्रवर्तन बढ़ता जाता है और लोकमूढ़तारूप खोटा आचरण छूटता जाता है।

भावार्थ :– जीवों का जिनवचनों के प्रति जैसे-जैसे श्रद्धान निर्मल होता जाता है। वैसे-वैसे लोक व्यवहार में भी उनकी धर्म-प्रवृत्ति होती जाती है, और लोकमूढ़तारूप खोटा आचरण छूट जाता है।

जिनभक्ति ही यथार्थ वैराग्य का कारण है

जाण जिणिंदो णिवसइ, सम्मं हिययम्मि सुद्धणाणेण।
ताण तिणं च विरायइ, मिच्छा धम्मो इमो सयलो।।६७।।

जिनके हृदय में शुद्ध, सम्यग्ज्ञान युत जिनवर रहें।
उनको सभी मिथ्या धरम, तृण तुल्य तुच्छ सदा लगें।।६७।।

अर्थ :– जिनके हृदय में शुद्ध ज्ञान सहित जिनराज विराजते हैं, उन्हें अन्य सर्व मिथ्याधर्म तृण तुल्य तुच्छ भासित होते हैं।

भावार्थ :– जो जीव वीतरागदेव के भक्त हैं, उन्हें सरागियों द्वारा कहा गया समस्त मिथ्या धर्म तुच्छ लगता है। उनका अभ्युदय देखकर मन में आश्चर्य नहीं करते। वे तो ऐसा जानते हैं कि यह तो विष मिश्रित भोजन है, जो वर्तमान में तो अच्छा दिखाई देता है, किन्तु उसका फल तो अत्यन्त हानिकारक है।

लोकमूढ़ता का प्रभाव

लोयपवाह समीरण, उद्दण्ड पयण्ड लहरीए।
दिढ सम्मत्त महाबल, रहिआ गुरुआ वि हल्लंति।।६८।।

उद्दण्ड वेग प्रचण्ड लहरें, जग प्रवाह समीर में।
अति दृढ़ महाबलवान समकित, हीन सब विचलित हुए।।६८।।

अर्थ :– लोक मूढ़ता के प्रवाहरूप उद्दण्ड पवन की प्रचण्ड लहरों

में दृढ़ सम्यक्त्व रूपी महाबल से रहित बड़े बड़े पुरुष भी विचलित हो जाते हैं।

भावार्थ :– समस्त मूढ़ताओं में लोकमूढ़ता ही प्रबल है, उससे बड़े पुरुषों की श्रद्धा भी शिथिल हो जाती है। इसलिए जैसे भी बने वैसे जिनमत की श्रद्धा दृढ़ करना और लोकमूढ़ता में मोहित नहीं होना। सब करते हैं, इसलिए उसमें कुछ तो सार होगा – ऐसा नहीं जानना।

नरक के दुःख स्मरणमात्र से ज्ञानी कांपता है

जिणमय अवहीलाए, जं दुक्खं पावणंति अण्णाणी।
णाणीण संभरित्ता, भयेण हिययं थरत्थरई।।६९।।

हैं अज्ञ जिनमत अवज्ञा से, घोर दुख पाते सदा।
हो स्मरण तो भयाकुल, ज्ञानी हृदय अति काँपता।।६९।।

अर्थ :– जिनमत की अवज्ञा करने मात्र से अज्ञानी जीवों को जितना दुःख प्राप्त होता है (नरकादि में दुःख भोगना पड़ता है) उन दुःखों का स्मरण करने से ही ज्ञानी पुरुषों का हृदय थर-थर काँप उठता है।

दूसरे के दोष ढूंढ़ना अपराध है

रे जीव आणाणीणं, मिच्छादिट्ठीण णिअसि किं दोसो।
अप्पावि किं ण याणसि, ण जइ काट्ठण्ण सम्मत्तं।।७०।।

हे जीव! अज्ञ कुदृष्टिओं के, दोष ही क्यों देखता?
दृढ़ समकिति नहिं दोषयुत, क्यों स्वयं को नहिं जानता?।।७०।।

अर्थ :– हे जीव! तू अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के दोष क्यों देखता है? वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही। तू अपने आपको ही क्यों नहीं जानता देखता है। यदि तुझे निश्चल सम्यक्त्व नहीं हुआ है तो तू भी तो दोषी ही है। इसलिए जिनवाणी अनुसार श्रद्धान दृढ़ कर।

प्रथम मिथ्यात्व त्यागने योग्य है

मिच्छत्त मायरंतवि, जे इह वंछंति सुद्ध जिणधम्मं।
ते धत्तावि जरेणय, भुत्तुं इच्छंति खीराइं।।७१।।

मिथ्यात्व सेवी चाहता यदि, शुद्ध नित जिनधर्म को।
तो खीर भक्षण चाहता, नित तीव्र अति ज्वरवान हो।।७१।।

अर्थ :– जो जीव मिथ्यात्व का सेवन करते हुए भी शुद्ध जिनधर्म की इच्छा करते हैं, वे ज्वरग्रस्त होते हुए भी खीर आदि खाने की इच्छा करते हैं।

भावार्थ :– कोई-कोई जीव कुदेवपूजन आदि मिथ्या आचरण तो छोड़ते नहीं हैं और कहते हैं कि यह तो व्यवहारमात्र है, श्रद्धान तो हमें जिनमत का ही है। आचार्यदेव उनसे कहते हैं कि – हे भाई! जब तक तुम रागी द्वेषी देवों की सेवा करते रहोगे, तब तक तो तुम्हें सम्यक्त्व का एक अंश भी होना असंभव है। इसलिए कुदेवों का प्रसंग तो दूर से ही छोड़ देना चाहिए और तब ही सम्यक्त्व के ग्रहण करने की कोई बात करना, क्योंकि जिनमत में ऐसा ही क्रम है।

धर्म का संबंध उच्चकुल से नहीं है

जइ केइ सुकुल वहुणो, सीलं मइलंति लिंति कुल णामं।
मिच्छत्त मायरंतवि, वहंति तह सुगुरु केरत्तं।।७२।।

ज्यों सुकुल वधु दु:शीलसेवी, हो सुकुल का नाम ले।
त्यों शिष्य सुगुरु का कहे, पर आचरण मिथ्या करे।।७२।।

अर्थ :– जैसे कोई उत्तम कुलवधु व्यभिचार का सेवन करके अपने शील को तो दोष लगावे और कुल का नाम लेकर कहे कि – मैं अमुक ऊँचे कुलवाली हूँ; उसी प्रकार कई कुगुरु स्वयं मिथ्यात्व का आचरण करते हुए भी कहते हैं कि – मैं सुगुरु का शिष्य हूँ।

भावार्थ :– इस काल में जैनमत में भी श्वेताम्बर, रक्ताम्बर आदि वेषधारी हुए हैं, वे भगवान की आज्ञा से विरुद्ध वस्त्रादि परिग्रह धारण करते हुए भी अपनी भट्टारक, आचार्य आदि पदवी मानते हैं और कहते हैं कि – हम गणधर आदि के कुल के हैं। उनसे यहाँ पर कहते हैं कि – जो मिथ्या आचरण करेगा वह मिथ्यादृष्टि ही है। कुल से किसी साध्य की सिद्धि नहीं है। जैसे – कोई स्त्री बड़े कुल की भी हो और यदि वह कुशील सेवन करे तो वह कुलटा ही है, कुलीन नहीं।

मिथ्याचारित्र में श्रावकपने का अभाव है

उस्सूत्त मायरंतवि, ठवंति, अप्पं सुसावगातम्मि।
ते सद्दरिद्द धत्थवि, तुलंति सरिसं धणाड्ढेहिं।।७३।।

कर आचरण उत्सूत्रमय, पर सुश्रावक ही मानते।
वे दरिद्री होकर सदा, धनवान निज को मानते।।७३।।

अर्थ :– जो पुरुष जिनसूत्र से विरुद्ध आचरण करते हुए भी अपने को उत्तम श्रावकों में स्थापित करते हैं–अपने को श्रावक मानते हैं, वे स्वयं दरिद्री होने पर भी अपने को धनवान माननेवालों के समान हैं।

भावार्थ :– कितने ही जीवों के देव–गुरु–धर्म की श्रद्धा आदि का तो कोई ठिकाना ही नहीं और क्रम–भंग करके किसी प्रकार की कोई प्रतिज्ञा आदि लेकर अपने को श्रावक मानने लगते हैं। वास्तव में वे श्रावक नहीं हैं। श्रावक तो वे तब होंगे, जब यथायोग्य आचरण करेंगे।

परीक्षा करके धर्मधारण करना योग्य है

किवि कुल कम्मम्मि रत्ता, किवि रत्ता सुद्ध जिणवर मयम्मि।
इय अंतरम्मि पिच्छइ, मूढाणं यं ण याणंति।।७४।।

कुल पद्धति में लीन कोई, शुद्ध जिनमत मानते।
परिणाम में अत्यधिक अन्तर, मूढ़ यह नहिं जानते।।७४।।

अर्थ :– कितने ही जीव तो कुलक्रम-परिपाटी-चलाने में ही लीन हैं; जैसा बड़े करते आये हैं, वैसा ही वे करते हैं, किसी भी प्रकार का हित-अहित का विचार कर निर्णय नहीं करते और कितने ही जीव शुद्ध जिनराज के मत में प्रवर्तते हैं तथा जिनवाणी के कहे अनुसार निर्णय-परीक्षा करके जिनधर्म को धारण किये हैं। देखो! इन दो प्रकार के जीवों में कितना बड़ा अन्तर है। बाहर से तो एक जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु परिणामों में बहुत अन्तर है। परन्तु मूढ़ जीव न्याय-अन्याय को जानते ही नहीं, वे तो सभी को एक समान मानते हैं।

भावार्थ :– स्वयं परीक्षापूर्वक निर्णय किये बिना मात्र कुलक्रम अनुसार जो जीव धर्म को धारण करते हैं, यदि उनके कुल के लोग धर्म छोड़ देंगे तो वे भी धर्म छोड़ देंगे; परन्तु जो जीव परीक्षा पूर्वक निर्णय करके सच्चे जिनधर्म को धारण करते हैं, वे कभी भी धर्म से चलायमान नहीं होते हैं। इसलिए आचार्य कहते हैं कि जिनवाणी अनुसार देव-गुरु-धर्म का यथार्थ स्वरूप पहिचानकर धर्म धारण करना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि की संगति अहितकारी है

संगो वि जाण अहिओ, तेसिं धम्माइ जेप्प कुव्वंति।
मुत्तूण चोर संगं, करंति ते चोरियं पावा।।७५।।
जब संग भी अति अहितकर, तब असद्धर्ममयी चरण।
ज्यों चोर संगति छोड़, चोरी पाप में निज प्रवर्तन।।७५।।

अर्थ :– मिथ्यादृष्टियों की संगति भी महान अहितकारी है, उसे (उस संगति को) छोड़ता है परन्तु जो जीव उनके मिथ्याधर्म का आचरण करता है, वह तो चोर का संग छोड़कर स्वयं पापी होकर चोरी करना जैसा है।

भावार्थ :– कितने ही जीव अपने को धर्मात्मा कहलाने के कारण स्वयं मिथ्यादृष्टियों की संगति तो नहीं करते; परन्तु उनके द्वारा

कहा गया जिनाज्ञा-रहित कुदेवादि की पूजनादि आचरणरूप कार्य करते हैं, वे पापी ही हैं। इसलिए मिथ्यादृष्टियों द्वारा बताया गया आचरण रंचमात्र भी करने योग्य नहीं है।

हिंसा महा अधर्म है

जत्थ पसु महिस लक्खा, पव्वे होमंति पाव णवमीए।
पूयंति तं पि सड्ढा, हा हीला वीयरायस्स।।७६।।

लाखों पशु का होम हो, जिस पाप नवमी पर्व में।
हा! मूढ़ पूजें उसे भी, वे अहिंसा निंदक कहें।।७६।।

अर्थ :- जिस पाप-नवमी के पर्व (दशहरा के पहिले) में लाखों पशुओं-भैंसों आदि की बलि चढ़ाई जाती है, उस पाप-नवमी को भी कई लोग पूजते हैं और अपने को श्रावक कहलवाते हैं। सो हाय! हाय!! वे तो वीतरागदेव की निन्दा कराते हैं। अन्य लोग कहते हैं कि देखो, जैनी भी यह कार्य करते हैं। इससे सच्चे जैनियों को लज्जा आती है और जैनधर्म की अप्रभावना होती है।

गृहस्वामी का मिथ्यात्व संपूर्ण कुल के लिए हानिकर है

जो गिह कुटुंब सामी, संतो मिच्छत्त रोयणं कुणई।
तेण सयलो वि वंसे, परिखित्तो भव समुद्दम्मि।।७७।।

यदि घर कुटुम्ब धनी स्वयं, मिथ्यात्व रुचि सम्पन्न हो।
तो भव जलधि में डुबाता, वह सकल वंश समूह को।।७७।।

अर्थ :- जो घर कुटुम्ब का स्वामी होकर मिथ्यात्व की रुचि और प्रशंसा करता है, उसने अपने समस्त कुल को संसार-समुद्र में डुबो दिया है।

भावार्थ :- कुल का स्वामी जब मिथ्यात्वादिक की रुचि-सराहना करता है, तो उसके कुल के सभी लोग वैसा ही आचरण करते

हैं और कहते हैं कि - हमारे बड़े ऐसा ही करते आये हैं। इस प्रकार परिवार के सब ही जीवों के मिथ्यात्व की पुष्टि होने से संसार में भ्रमण करेंगे। इसलिए घर का स्वामी होने पर मिथ्यात्वादिक की थोड़ी-सी भी प्रशंसादि करना योग्य नहीं है।

मिथ्यात्व और कषायपोषक आचरण मिथ्यात्व ही है

कुण्ड चउत्थी णवमी, वारस पिण्डप्पदाण पमुहाई।
मिच्छत्तं भावगाई, कुणंति तेसिं ण सम्मत्तं।।७८।।

जो करे कुंड चतुर्थी, पिण्डदान नवमी द्वादशी।
इत्यादि मिथ्याभावपोषक, समकिती वह है नहीं।।७८।।

अर्थ :- कुण्ड-चतुर्थी, गोगा-नवमी, वच्छ-वारस, कन्यागत में, पिण्डदान, दशहरा, होली, गणगौर आदि; जिनमें मिथ्यात्व-कषाय की वृद्धि होती है, ऐसे समस्त प्रकार के मिथ्या आचरण करनेवालों को सम्यग्ज्ञान नहीं है, सम्यग्दर्शन नहीं है-वे सब मिथ्यादृष्टि ही हैं।

कुटुम्ब का मिथ्यात्व दूर करनेवाले बिरले हैं

जइ अइ कलम्मि खुत्तं, सगडं कड्ढंति केवि धुरि धवला।
तह मिच्छाउ कुडुंवं, इह विरला केवि कड्ढंति।।७९।।

अतिगाढ़ कीचड़ में फसी, गाड़ी निकालें वृषभ ही।
अति सबल त्यों मिथ्यात्व से, परिजन निकालें विरल ही।।७९।।

अर्थ :- जैसे अत्यंत कीचड़ में फंसी हुई गाड़ी को बलवान वृषभ ही बाहर खींच पाते हैं, वैसे ही इस लोक में मिथ्यात्वरूपी कीचड़ में फंसे हुए अपने कुटुंब को उसमें से कोई उत्तम विरला पुरुष ही बाहर निकाल पाता है।

भावार्थ :- जो स्वयं दृढ़ श्रद्धानी हैं, वे अपने कुटुंब को उपदेशादि द्वारा मिथ्यात्व रहित करते हैं - ऐसे धर्मात्मा बहुत थोड़े हैं।

तीव्र मिथ्यात्वी को जिनदेव का स्वरूप समझ में नहीं आता

जइ बद्दलेण सूरं, महियल पयडं पि णेअ पिच्छंति।
मिच्छत्तस्सय उदये, तहेव ण णिअंति जिणदेवं।।८०।।

धन से ढ़का अति तेजमय, रवि भूजनों को नहिं दिखे।
त्यों उदय में मिथ्यात्व के, सुव्यक्त जिन भी नहिं दिखें।।८०।।

अर्थ :– जैसे देदीप्यमान सूर्य के बादलों से ढके होने पर पृथ्वीतल पर लोगों को दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय में जीवों को प्रगट जिनदेव भी दिखाई नहीं देते।

भावार्थ :– अरहन्तदेव का स्वरूप जैसा है, वैसा युक्ति और शास्त्र द्वारा यथार्थ परीक्षा करनेवालों को तो दिखाई देता है, परन्तु जिनके मिथ्यात्व का उदय है, उन्हें बिल्कुल भी नहीं दिखाई देता है।

सम्यक्त्व से द्वेष करनेवाले का जन्म निष्फल है

किं सो वि जणणि जाओ, जाओ जणणी ण किं गओ षुट्ठी।
जइ मिच्छरओ जाओ, गुणेसु तह मच्छरं वहई।।८१।।

मिथ्यात्ववश कोई यदि, सद्गुणों में मत्सर धरे।
क्या उसे माता ने जना? या जना तो क्या नहीं बढ़े?।।८१।।

अर्थ :– जो पुरुष मिथ्यात्व में लीन है और सम्यक्त्वादि गुणों के प्रति मत्सर-भाव रखता है, तो उस पुरुष ने माता के पेट से जन्म ही क्यों लिया? उसका जन्म लेना व्यर्थ हुआ।

भावार्थ :– मनुष्य जन्म धारण करने का फल तो यह है कि जिनवाणी का अभ्यास करके मिथ्यात्व को त्यागना और सम्यक्त्वादि गुणों को अंगीकार करना। जिसने यह कार्य नहीं किया, उसका मनुष्य जन्म पाना और नहीं पाना बराबर है।

मिथ्याभेषी दूर से ही त्याज्य है

वेस्साण बंदियाणय, महाण्डूवाण जक्ख सिक्खाणं।
भत्ताभर कट्ठाणं, विरयाणं जंति दूरेण।।८२।।

जिस भेष के वन्दन, सभक्तिभर ग्रहण शिक्षादि से।
हैं डूबते सुविशाल भवदधि, दूर से ही त्याग दे।।८२।।

अर्थ :– मात्र भेष धारण किया है जिन्होंने, उन्हें वन्दन करने से, उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करने से, उनकी विशेष-भक्ति करने से महाभव-समुद्र में डूबते हैं। इसलिए उन्हें दूर से ही त्याग देना चाहिए।

जो जीव जैनधर्म अंगीकार करते हैं वे विशेष प्रशंसनीय हैं

सुद्धे मग्गे जाया, सुहेण गच्छंति सुद्ध मग्गम्मि।
जेहि अमग्गे जाया, मग्गे गच्छंति ते बुज्जं।।८३।।

सत्मार्ग में जन्मे, सहजता से चलें शुधमार्ग में।
जन्मे अमार्ग चलें सुमारग, वे प्रशंसा-योग्य हैं।।८३।।

अर्थ :– जिन्होंने शुद्ध मार्ग में जन्म लिया है, वे तो सुखपूर्वक शुद्ध मार्ग में चलते ही हैं, परन्तु जिन्होंने अन्य मार्ग में जन्म लिया है, और सुमार्ग में चलते हैं-यह आश्चर्य है।

भावार्थ :– जिनके परम्परा से जिनधर्म चला आता है, वे जिनधर्म में प्रवर्तते हैं - यह तो ठीक है; परन्तु जो अजैन कुल में जन्म लेकर जिनधर्म में प्रवर्तन करते हैं-वे अधिक प्रशंसा के योग्य हैं।

तीव्र मिथ्यात्वी के विवेक का अभाव है

मिच्छत्त सेवगाणं, विग्घ सयाइंपि विंति णो पावा।
विग्घ लवम्मिवि पडिए, दिट्ठ धम्माणं य भण्णंति।।८४।।

मिथ्यात्वसेवी को अनेकों, विघ्न पर पापी नहीं।
कहते पड़े विघ्नांश धर्मी, पर कहें उससे सभी।।८४।।

अर्थ :– मिथ्यात्व का सेवन करनेवालों को सैकड़ों आपत्तियाँ आती हैं, तो पापी जीव कोई नहीं कहते कि ये आपत्तियाँ मिथ्यात्व का सेवन करने के कारण आईं; और दृढ़ सम्यक्त्वी जीवों को पूर्व कर्म के उदय से विपत्ति का एक अंश भी आ जाता है, तो पापी जीव उसे धर्म का फल प्रगट करते हैं–कहते हैं।

भावार्थ :– कुदेवादि का सेवन करने से सैकड़ों विघ्न–बाधायें आती हैं, उन्हें तो मूर्ख लोग गिनते भी नहीं हैं। परन्तु धर्म का सेवन करनेवाले धर्मात्मा पुरुषों को पूर्व कर्म के उदय से कदाचित् किंचित् भी विघ्न आ जाय तो वहाँ मूर्ख लोग ऐसा कहते हैं कि – धर्म–सेवन करने से ही यह विघ्न आया है। जहाँ ऐसी विवेकहीन विपरीत बुद्धि है सो यह मिथ्यात्व की ही महिमा है।

सम्यक्त्वी को विघ्न भी उत्सव है

सम्मत्त संजुयाणं, विग्घं पि होइ उच्छउ सारिच्छं।
परमुच्छवंपि मिच्छत्त, संजुअं अइ महा विग्घं।।८५।।

बहु विघ्न भी उत्सव समान, सदा लगें समकिती को।
मिथ्यात्वयुत को महोत्सव, भी महाविघ्न रहें अहो।।८५।।

अर्थ :– सम्यक्त्व सहित जीव को विघ्न भी हो तो वह उसे उत्सव समान मानता है और मिथ्यात्व सहित जीव को परम उत्सव भी हो तो वह उसे महाविघ्न है।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवों के पूर्व कर्मोदय से यदि कोई उपसर्ग आदि भी आ जावे तो वहाँ उनकी निश्चल श्रद्धा रहने से पाप कर्म की निर्जरा होती है और पुण्य का अनुभाग बढ़ जाता है और भविष्य में महान सुख होगा। इसलिये उनको विघ्न भी उत्सव समान हैं, परन्तु मिथ्यात्व सहित जीव को किसी पूर्व पुण्य कर्म के उदय से

वर्तमान में सुख साता दिखाई देती है, जिसे वह अत्यंत आसक्ति पूर्वक भोगता है, जिससे आगमी तीव्र पाप का बंध होने से नरकादिक का महादुख होगा। इसलिए उन्हें उत्सव भी विघ्न समान हैं। अत: ऐसा जानना कि सम्यक्त्व सहित दु:ख भी भला, किन्तु मिथ्यात्व सहित सुख भी भला नहीं।

सम्यग्दृष्टि इन्द्र द्वारा वंदनीय है

इंदोवि ताण पणमइ, हीलंतो णियरिद्धि वित्थारं।
मरणंते विहु पत्ते, सम्मत्तं जे ण छंडंति।।८६।।

मरणान्त दुख पा भी कभी, सम्यक्त्व जो नहिं छोड़ते।
विस्तृत सुऋद्धि तुच्छ गिनते, इन्द्र नमन करें उन्हें।।८६।।

अर्थ :– मरण जैसा दु:ख प्राप्त होने पर भी जो जीव सम्यक्त्व को नहीं छोड़ते हैं, उनके सामने इन्द्र भी अपनी ऋद्धियों के विस्तार की निन्दा करता हुआ उन्हें प्रणाम करता है।

भावार्थ :– इन्द्र भी यह जानता है कि जिनके दृढ़ सम्यग्दर्शन है, वे जीव ही शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं। सम्यक्त्व ही अविनाशी ऋद्धि है, क्योंकि सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है और ये अन्य ऋद्धियाँ–इन्द्र की विभूति तो विनाशिक है, दु:ख का कारण है। अत: वह भी सम्यदृष्टियों को नमस्कार करता है।

सम्यक्त्वी को जीवन से मोह नहीं होता

छंडंति णिय अजीवं, तिणंव मुक्खत्थिणो तउण सम्मं।
लब्भइ पुणो वि जीवं, सम्मत्तं हारियं कुत्तो।।८७।।

मोक्षेच्छु तृणवत् त्याग दें, तन पर नहीं सम्यक्त्व को।
छोड़ें पुन: पाना कठिन वह, पर न पाना देह को।।८७।।

अर्थ :– जो जीव मोक्ष के इच्छुक हैं, वे अपने जीवन को तो

तृण के समान त्याग देते हैं, परन्तु सम्यक्त्व को नहीं छोड़ते। जीवन पुनः प्राप्त हो जाता है, परन्तु सम्यक्त्व के चले जाने पर उसकी प्राप्ति दुर्लभ है।

भावार्थ :– कर्मोदय के आधीन मरण और जीवन तो अनादि से होता आया है, किन्तु जिनधर्म और सम्यक्त्व की प्राप्ति महादुर्लभ है। इसलिए प्राणांत होता हो तो भी सम्यक्त्व छोड़ना योग्य नहीं।

सम्यग्दृष्टि ही यथार्थ वैभववन्त है

गय विहवावि सविहवा, सहिया सम्मत्त रयण राएण।
सम्मत्त रयण रहिआ, संतेवि धणे दरिद्दंति।।८८।।

सम्यक्त्व रत्न समूह युत, निर्धन सदा धनवान है।
सम्यक्त्व रत्न रहित धनी, भी सदा ही धनहीन है।।८८।।

अर्थ :– जो पुरुष सम्यक्त्वरूपी रत्नराशि से सहित हैं, वे धन-धान्यादि वैभव से रहित होने पर भी वास्तव में वे वैभव सहित ही हैं; और जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं, वे धनादि सहित हों तो भी दरिद्री ही हैं।

भावार्थ :– जिन्हें आत्मज्ञान हुआ है, उन्हें धनादि पर द्रव्य के होने और न होने से हर्ष-विषाद नहीं होता, क्योंकि वे तो वीतरागी सुख के आस्वादी हैं, इसलिए वे ही सच्चे धनवान हैं। और अज्ञानी तो परद्रव्य की हानि-वृद्धि में सदा आकुलित हैं, इसलिए वे दरिद्री ही हैं।

सम्यग्दृष्टि की पहिचान

जिन पूयण पच्छावे, जइ कुवि सद्दाण देइ धनकोडी।
मुत्तूण तं असारं, सारं थिरयंति जिणपूयं।।८९।।

सद्दृष्टि को जिन पूजनादि, समय बहु धन दे तजें।
निःसार मान सुथिरमनी, सब सार जिन पूजा करें।।८९।।

अर्थ :– श्रद्धावान जीवों को जिनराज की पूजा के समय में कोई करोड़ों का धन दे तो भी वे असार धन को छोड़कर स्थिरचित्त से सारभूत जिनराज की पूजा ही करते हैं।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि को ज्ञान वैराग्य अवश्य होता है। इसलिए वीतरागी की पूजा आदि में उसे परम रुचि बढ़ती है। धर्म-कार्य के समय में व्यापारादि कार्य आ जाय, तो वह उसे दु:खदायी ही समझता है, और धर्मकार्य को छोड़कर पाप कार्य में नहीं लगता है-यह सम्यग्दृष्टि का चिह्न है और जिसे धर्मकार्य रुचता नहीं है, किन्तु जिस-तिस प्रकार उसे पूरा करना चाहता है तथा व्यापारादि रुचिपूर्वक करता है-यह मिथ्यादृष्टि का चिह्न है।

जिनपूजन सम्यक्त्व का कारण है

तित्थयराणं पूजा, सम्मत्त गुणाण कारणं भणिया।
सोविय मिच्छत्तयरी, जिण समये देसियापूयं।।९०।।

सम्यक्त्व गुण कारण कहा, है वीतरागी पूजना।
मिथ्यात्वकारक ही कहा, रागादि को भी पूजना।।९०।।

अर्थ :– तीर्थंकर देवों की पूजा सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण कही है और रागी-द्वेषी अपूज्य कुदेवों की पूजा मिथ्यात्व करनेवाली है - ऐसा जिनमत में कहा है।

भावार्थ :– जिसमें जो गुण होते हैं, उसकी सेवा करने से वैसे ही गुण प्राप्त हो जाते हैं-ऐसा न्याय है। अरहन्त का स्वरूप ज्ञान वैराग्यमय है। उनकी पूजा, ध्यान, स्मरणादि करने से ज्ञान वैराग्यरूप सम्यक् गुणों की प्राप्ति होती है। कुदेवों का स्वरूप राग-द्वेष-लोभ-क्रोधादि विकारों सहित है। अत: उन कुदेवों की पूजा-भक्ति करने से मिथ्यात्वादि पुष्ट होते हैं।

तत्त्वज्ञ पुरुष की पहिचान

जं जं जिण आणाए, तं चिय मण्णइ ण मण्णए सेसं।
जाणइ लोय पवाहे, णहु तत्तं सोय तत्तविऊ।।९१।।

जो जिनाज्ञा सब ही सदा, मानें न मानें अन्य कुछ।
जो लोकरीति को नहीं, परमार्थ मानें तत्त्वविद्।।९१।।

अर्थ :– जिनाज्ञा में जो-जो कहा गया है, उसे ही सत्य मानता है और जिनाज्ञा के सिवा और को नहीं मानता है, तथा लोकरूढ़ि को परमार्थ नहीं मानता है - ऐसा पुरुष तत्त्वविद् है।

भावार्थ :– जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे जिनभाषित धर्म को तो सत्यार्थ जानते हैं, अन्य मिथ्यादृष्टि लोगों की सब रीति को मिथ्या जानते हैं।

जिनाज्ञा से ही धर्म प्रवर्तता है

जिण आणाए धम्मो, आणारहियाण कुड अहंमुत्ति।
इय मुणि ऊण य तत्तं, जिण आणाए कुणह धम्मं।।९२।।

हो जिनाज्ञा से धर्म, आज्ञा बिन अधर्म सभी सदा।
यों मान वस्तु स्वरूप, धर्म करो जिनाज्ञा से सदा।।९२।।

अर्थ :– जिनाज्ञा से (सहित जीवों को) धर्म है और जिनाज्ञा से रहित जीवों को अधर्म है। ऐसा प्रगट वस्तु स्वरूप जानकर जिनाज्ञानुसार धर्म करो।

भावार्थ :– जो-जो धर्मकार्य करे, वह जिनाज्ञा प्रमाण ही करना। अपनी चतुराई से मानादि कषायों का पोषण करने के लिये जिनाज्ञा से विरुद्ध प्रवर्तन करना योग्य नहीं; क्योंकि प्राय: छद्मस्थ से भूल हो ही जाती है।

यहाँ कोई कहे – जिनाज्ञा तो श्वेतांबरादिक भी कहते हैं, हम किसे प्रमाण मानें?

इसका उत्तर :– जो युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध कुन्दकुन्द आदि महान आचार्यों ने यथार्थ आचरण बताया है, उसे मानना। श्वेताम्बरादिकों ने अपना शिथिलाचार बताया है। इसलिए योग्य शास्त्र से परीक्षा करना। प्रगट विरुद्ध दिखाई दे, उसे त्यागना।

फिर कोई कहे – यदि दिगम्बर शास्त्रों में अन्य-अन्य प्रकार का कथन हो, तो क्या करें?

इसका उत्तर :– जो कथन सभी शास्त्रों में एक जैसा हो, वह तो प्रमाण ही है और यदि कहीं विवक्षावश अन्य कथन हो तो उसकी विधि मिला लेना-विवक्षा समझ लेना। यदि अपने ज्ञान में विधि (विवक्षा) न समझ में आवे तो अपनी भूल मानना तथा विशेष ज्ञानियों से पूछ कर निर्णय करना। विशेष शास्त्रों का अभ्यास सम्यक्त्व का मूल कारण है।

मिथ्यादृष्टि की पहिचान

साहीणे गुरुजोगे, जे णहु सुणंति सुद्ध धम्मत्थं।
ते धिट्ठ दुट्ठ चित्ता, अह सुहड़ा भवभय विहूणा।।९३।।

स्वाधीन गुरु संयोग से, भी शुद्धधर्म स्वरूप नहिं।
सुनते दुराग्रह युक्त, दुष्ट सुभट व भवभय हीन ही।।९३।।

अर्थ :– धर्म का सत्यार्थ मार्ग दिखलानेवाले स्वाधीन सुगुरु का सुयोग मिलने पर भी जो निर्मल धर्म का स्वरूप नहीं सुनते, वे पुरुष ढीठ और दुष्ट चित्तवाले हैं तथा संसार परिभ्रमण के भय से रहित सुभट हैं।

भावार्थ :– धर्मात्मा वक्ता का निमित्त मिलने पर भी जो जीव धर्म-श्रवण नहीं करते, वे अपना अकल्याण करनेवाले होने से दुष्ट हैं और कहने पर भी लज्जा नहीं आने से ढीठ हैं और यदि उन्हें संसार का

भय होता तो वे धर्म श्रवण करते, किन्तु वे नहीं सुनते हैं। इससे जाना जाता है कि वे संसारभय से रहित सुभट हैं। यहाँ आचार्य ने व्यंग्य किया है।

गुणी पुरुष के चारित्र होता ही है

सुद्ध कुल धम्म जायवि, गुणिणो ण रमंति लिंति जिण दिक्खं।
तत्तो वि परम तत्तं, तओवि उवयार ओ मुक्खं।।९४।।

शुद्ध कुलधर्मज गुणी, नहिं भ्रमें जिनदीक्षा धरें।
सर्वोत्कृष्ट सुतत्त्व आतम, में रमण से शिव वरें।।९४।।

अर्थ :– शुद्ध कुल-धर्म में उत्पन्न हुए गुणवान पुरुष संसार में रमते नहीं हैं, किन्तु जिनदीक्षा ग्रहण करते ही हैं। उसके बाद परम तत्त्वरूप शुद्ध निज आत्मा का ध्यान करके आत्मा का परम हितरूप मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भावार्थ :– यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकरादि महापुरुष किसलिये राजपाट को छोड़कर दीक्षा धारण करते? इससे मालूम होता है कि संसार में महान दु:ख है।

संसार से उदास पुरुष ही प्रशंसनीय है

वण्णेमि णारयाउवि, जेसिं दुक्खाइ संस्मरंताणं।
भव्वाण जणइ हरिहर, रिद्धि समिद्धि उव्वासं।।९५।।

नरकादि दुख स्मरण में भी, हरिहरादि ऋद्धि या।
समृद्धि में मध्यस्थता वे, धन्य हैं यों जानता।।९५।।

अर्थ :– मैं उस भव्य जीव की प्रशंसा करता हूँ-उसे धन्य मानता हूँ-जिसे नरकादि का दुख स्मरण करते हुए मन में हरि-हरादिक की ऋद्धि और समृद्धि के प्रति उदासीनता ही उत्पन्न होती है।

भावार्थ :– ज्ञानी जीव हरि-हरादिक की ऋद्धिओं की समृद्धिरूप

वैभव में भी प्रसन्न नहीं होते तो अन्य विभूति में तो कैसे रमेंगे? क्योंकि ज्ञानी जीव बहुत आरंभ और परिग्रह में नरकादिक के दुखों की प्राप्ति ही मानते हैं। सम्यग्दर्शनादिक को ही आत्मा का हित मानते हैं।

ग्रन्थकर्ता द्वारा पूर्वाचार्य का आभार

सिरि धम्मदास गणिणा, रइयं उवएस माल सिद्धंतं।
सव्वेवि समण सद्दा, मण्णंति पठंति पाठंति।।९६।।

सिद्धान्तयुत उपदेशमाला, धर्मदासाचार्य कृत।
सब श्रमण श्रावक रुचि से, पढ़ते पढ़ाते गुने नित।।९६।।

अर्थ :– श्री धर्मदास आचार्य द्वारा रचित उपदेशमाला को जिसमें सिद्धान्त लिखे गये हैं, सभी मुनि और श्रावक श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं, पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं।

भावार्थ :– यह उपदेश पहले आचार्य धर्मदासजी ने रचा था उसी को मैं (नेमिचन्द्र भण्डारी) ने कहा है; कोई कपोल कल्पित नहीं है, प्रामाणिक है और सम्यक्त्वादि को पुष्ट करने में कल्याणकारी है।

शास्त्र की निन्दा करना दुर्गति का कारण है

तं चेव केइ अहमा, छलिया अइ माण मोह भूएण।
किरियाए हीलंता, हा हा दुक्खाई ण गिण्णंति।।९७।।

उसकी करें निन्दा चरण से, अधम मानाधिक्य से।
हा! हा! ठगाए मोहनृप से, दु:ख को नहिं गिनें वे।।९७।।

अर्थ :– ऐसे शास्त्रों की कई अधम मिथ्यादृष्टि निन्दा करते हैं। हाय! हाय!! निन्दा करने से जो नरकादि का दु:ख होता है, उसे वे जीव गिनते नहीं हैं, जो अभिमान और मिथ्यात्व राजा के द्वारा ठगाये गये हैं।

कषायवश जिनाज्ञा भंग करना योग्य नहीं है

इयराण चक्कुराणवि, आणा भंगे वि होइ मरण दुहं।
किं पुण तिलोय पहुणो, जिणिंद देवाहिदेवस्स।।९८।।

हो इतर नृप चक्री अवज्ञा, से मरण दुख दण्ड हा!।
त्रैलोक्य प्रभु देवाधिदेव, जिनेन्द्र आज्ञा भंग क्या?।।९८।।

अर्थ :– चक्रवर्ती अथवा अन्य साधारण राजाओं की आज्ञा भंग करने पर मृत्युदण्ड तक का दुःख होता है, तो क्या तीन लोक के प्रभु देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का भंग करने पर दुःख (दण्ड) नहीं होगा? अवश्य ही होगा।

भावार्थ :– मात्र अज्ञानवश कोई जीव पदार्थ का अयथार्थ निरूपण करे तो आज्ञा भंग का दोष नहीं है; किन्तु जो जीव कषायवश एक अंशमात्र अयथार्थ-अन्यथा कथन करे तो वह जीव अनंतसंसारी होता है; क्योंकि उसमें मिथ्यात्व का प्रवर्तन है, और वह प्रवर्तन जिनाज्ञा नहीं मानने के कारण है। इसलिए धर्मात्मा पुरुषों को कषाय के वश होकर जिनाज्ञा भंग करना योग्य नहीं है। जिसे अपनी मानादि कषायों की पुष्टि करना हो उसकी बात अलग है।

जिसे जिनाज्ञा प्रमाण नहीं, उसे धर्म नहीं होता

जगगुरु जिणस्स वयणं, सयलाण जियाण होइ हियकरणं।
ता तस्स विराहरणया, कह धम्मो कहणु जीवदया।।९९।।

हैं जगद्गुरु जिनके वचन, सब जीव हितकारक सदा।
उनकी विराधन से कहो, कैसे धर्म प्राणी दया?।।९९।।

अर्थ :– जगत के गुरु जो जिनराज हैं, उनके वचन समस्त जीवों को हितकारी हैं, सो ऐसे जिनवचन की विराधना से कैसे धर्म हो सकेगा? ये तो कहो, और जीवदया किस प्रकार पल सकेगी?

भावार्थ :– कई ढूंढियादि मत के हैं; वे जिनाज्ञा प्रमाण पूजादिक कार्यों में हिंसा मानकर उनका तो निषेध करते हैं तथा अन्य प्रकार से धर्म तथा जीवदया की प्ररूपणा करते हैं। उनसे कहते हैं – जिनपूजनादि कार्यों में यदि हिंसा का दोष होता तो भगवान उसका उपदेश ही क्यों देते? तुम्हारी समझ में ही भूल है। जिनवचन तो सर्व ही दयामय हैं। जिसको जिनाज्ञा प्रमाण नहीं, उसे न धर्म है और न दया है।

ज्ञान बिना मूढ़ जीव क्रिया आचरते हैं

किरियाइ फडाडोवं, अहिय साहंति आगम विहूणं।
मुद्धाण रंजणत्थं, सुद्धाणं हीलणत्थाए।।१००।।

हैं जिनाज्ञा विरहित, क्रियाडम्बर विविध साधन सभी।
वे मूढ़रंजन हेतु, सम्यग्दृष्टि मानें निन्द्य ही।।१००।।

अर्थ :– जो जीव आगमरहित तपश्चरण आदि क्रियाओं का आडम्बर बहुत करते हैं, उनसे मूर्ख जीव तो प्रसन्न होते हैं; किन्तु शुद्ध सम्यग्दृष्टियों द्वारा वे निन्दनीय ही हैं।

भावार्थ :– कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव जिनाज्ञा बिना बहुत आडम्बर धारण करते हैं, जो मूर्खों को बहुत रुचते हैं; परन्तु ज्ञानी जानते हैं कि यह समस्त क्रिया जिनाज्ञा रहित होने से कार्यकारी नहीं है।

ज्ञानदान ही श्रेष्ठदान है

जो देइ सुद्ध धम्मं, सो परमप्पा जयम्मि षहु अण्णो।
किं कप्पदुम्म सरिसो, इयर तरु होइ कइ आवि।।१०१।

जो शुद्ध धर्मोपदेश दाता, परम आत्मा जयें नित।
नहिं अन्य क्या हो सके कोई, तरु कल्पतरु सदृश?।।१०१।।

अर्थ :– जो शुद्ध जिनधर्म का उपदेश देता है, वह ही लोक में प्रगटपने धर्मात्मा है, ऐसा परम आत्मा जयवंत हो, न कि अन्य धन धन्यादि पदार्थों का देनेवाला; क्योंकि क्या कल्पवृक्ष की बराबरी अन्य कोई वृक्ष कर सकता है? कदापि नहीं।

भावार्थ :– समस्त जीवों का हित सुख है और वह सुख धर्म से होता है। इसलिए जो धर्म का उपदेश देते हैं, वे ही परम हितकारी हैं। अन्य स्त्री पुत्रादिक हितकारी नहीं हैं; क्योंकि उनसे तो मोह उत्पन्न होता है।

अविवेकी को क्रोध होता ही है

जे अमुणिय गुणदोसा, ते कह विवुहाण हुँति मज्झत्था।
अह ते विहु मज्झत्था, विस अमियाण तुल्लत्तं।।१०२।।

माध्यस्थ कैसे बिबुध पर, जो दोष गुण नहिं जानते?
हो जहर अमृत तुल्यता, माध्यस्थ हैं यदि अज्ञ वे।।१०२।।

अर्थ :– जो मूर्ख गुण और दोष को नहीं पहिचानते, वे बुद्धिमानों (पंडितों) के ऊपर माध्यस्थभाव कैसे रख सकते हैं? क्रोधादि क्यों नहीं करेंगे? करते ही हैं, क्योंकि उन्हें पण्डितों के गुणों की परख नहीं है। वे तो विष और अमृत को समान ही बतलाते हैं, फिर मध्यस्थ कैसे रह सकेंगे? नहीं रह सकते।

धर्म के मूल देव–शास्त्र–गुरु हैं

मूलं जिणिंद देवो, तव्वयणं गुरुजणं महासयणं।
सेसं पावट्ठाणं, परमप्पाणं च वज्जेमि।।१०३।।

जिनदेव जिनवाणी महा, सज्जन गुरु हैं धर्म के।
नित मूल पापस्थान शेष, स्व पर हटाऊँ इसलिए।।१०३।।

अर्थ :– धर्म की उत्पत्ति के मूल कारण जिनेन्द्रदेव, जिनवचन और महासज्जन स्वभावी निर्ग्रन्थ गुरुजन हैं। इनके सिवा अन्य कुदेवादिक तो पाप के स्थान हैं, जिनसे मैं स्वयं को तथा दूसरों को वर्जित करता हूँ।

भावार्थ :– देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान सम्यक्त्व का मूल कारण है। इसलिए मैंने अपने को तथा दूसरों को दृढ़ श्रद्धान कराने के लिये यह उपदेश रचा है।

सच्चा गुरु जिनाज्ञानुसारी ही होता है

अम्हाण रायरोसं, कस्सुवरिं णत्थि अत्थि गुरु विसये।
जिणआण रया गुरुणो, धम्मत्थं सेसवो सरिमो।।१०४।।

है राग द्वेष नहीं हमारा, किसी पर पर गुरु में।
हैं जिनाज्ञारत गुरु ही, धर्मार्थ त्यागूँ शेष मैं।।१०४।।

अर्थ :– हमारा राग-द्वेष किसी के पर ऊपर नहीं है। मात्र गुरु के सम्बन्ध में राग है। जो जिनाज्ञा में तत्पर हैं, वे तो हमें धर्म के गुरु हैं। शेष सभी का मैं त्याग करता हूँ।

भावार्थ :– कोई कहे कि तुम्हें राग-द्वेष है, इसीलिए तुम ऐसा उपदेश देते हो। उससे कहते हैं कि - किसी लौकिक प्रयोजन के लिये हमारा उपदेश नहीं है, केवल धर्म के लिये सुगुरु का ग्रहण और कुगुरु का त्याग कराने का हमारा प्रयोजन है, क्योंकि सुगुरु सम्यक्त्व का और कुगुरु मिथ्यात्व का मूल कारण है।

जिनवचनों से शोभायमान ही गुरु हैं

णो अप्पणा पराया, गुरुणो कइ आवि हुँति सद्धाणं।
जिण वयण रयण मंडण, मंडिय सव्वेवि ते सुगुरु।।१०५।।

ये हैं हमारे ये पराए, भेद नहिं श्रद्धालु के।
जो जिनवचनमय रत्न, भूषण से सुशोभित सुगुरु वे।।१०५।।

अर्थ :– श्रद्धावान जीवों को 'यह मेरा गुरु' और 'यह पराया गुरु' ऐसा भेद गुरु के विषय में कदापि नहीं होता। जिनवचन रूपी रत्नों के आभूषणों से जो शोभायमान हैं, वे सब ही सुगुरु हैं।

भावार्थ :– इस कलिकाल में कई जीव ऐसा मानते हैं कि अमुक गच्छ के या अमुक सम्प्रदाय के तो हमारे गुरु हैं, शेष दूसरों के गुरु हैं। ऐसा एकान्त जिनमत में नहीं है। जिनमत में तो पंच महाव्रत और २८ मूलगुणरूप यथार्थ आचरण के धारी जितने भी हैं, वे सब ही हमारे सुगुरु हैं।

सज्जनों की संगति से दूसरे भी सज्जन हो जाते हैं

वलि किज्जामो सज्जण, जणस्स सुविसुद्ध पुण्ण जुत्तस्स।
जस्स लहु संगमेणवि, सुधम्म बुद्धि समुल्लसई।।१०६।।

हैं पुण्ययुत सुविशुद्ध सज्जन, जनों पर मैं समर्पित।
हो क्योंकि उनके क्षणिक संग से, भी धर्मधी उल्लसित।।१०६।।

अर्थ :– जो सुविशुद्ध (निर्मल) बुद्धि के धारक पुण्यवान सज्जन पुरुष हैं, मैं उनकी बलि जाऊँ। उनकी थोड़ी देर की संगति से भी विशुद्ध धर्मबुद्धि समुल्लसित हो जाती है।

भावार्थ :– यदि मिथ्यात्व रहित सम्यक्त्वादि धर्म की इच्छा हो तो साधर्मी विशेष ज्ञानी जनों की संगति करो, क्योंकि संसार में संगति से ही गुण-दोषों की प्राप्ति देखने में आती है।

ज्ञानी गुरुओं का सद्भाव सदा रहता है

अज्जवि गुरुणो गुणिणो, सुद्धा दीसंति लडयडा केवि।
यहु जिण वल्लह सरिसो, पुणो वि जिण वल्लहो चेव।।१०७।।

हैं जिन्हें जिनवर इष्ट, जिनबल्लभ समान सुशुद्धता।
गुणवान गुरु हैं आज भी, होती कहीं उपलब्धता।।१०७।।

अर्थ :– जिन्हें जिनराज ही परम इष्ट हैं, जो स्वयं जिनवल्लभ हैं अर्थात् जो जिनेन्द्र को प्रिय हैं, ऐसे शुद्ध पवित्र गुणों के धारक जिनवल्लभ नग्न दिगम्बर गुरु आज भी कहीं-कहीं दिखाई देते हैं।

भावार्थ :– यहाँ कोई मिथ्याभेषधारी कहता है - इस क्षेत्र में इस काल में मुनि तो दिखाई नहीं देते, फिर 'आज भी जिनवल्लभ मुनि हैं,' ऐसा वचन कैसे कहा?

उसका उत्तर ऐसा है कि - यह वचन सिर्फ तुम्हारी ही अपेक्षा से नहीं है, परन्तु सब की अपेक्षा से है। तुम्हें अपने तुच्छ ज्ञान में मुनि का सद्भाव नहीं दिखता, इससे कोई सर्वत्र उनका अभाव नहीं कह सकता। इसलिए वे किसी न किसी पुरुष को प्रत्यक्ष होते ही होंगे, क्योंकि आज भी मुनियों का सद्भाव शास्त्र में कहा है।

सुगुरु के वचन भव्य को उल्लसित करते ही हैं

वयणेवि सुगुरु जिण वल्लहस्स केसिं ण उल्लसइ सम्मत्तं।
अह कह दिणमणि तेअं, उलुआणं हरइ अंधत्तं।।१०८।।

जिनराज सेवी सुगुरुवाणी, से नहीं समकित हुआ।
क्या सूर्य हर सकता कभी भी उलूकों की अन्धता?।।१०८।।

अर्थ :– जिनराज ही हैं प्रिय जिनको, ऐसे निर्ग्रन्थ सद्गुरु का उपदेश होने पर भी किसी-किसी जीव का सम्यक्त्व उल्लसित नहीं होता। जैसे सूर्य का प्रकाश क्या उल्लुओं के अन्धत्व को दूर कर सकता है? नहीं।

भावार्थ :– जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश हो जाने पर भी

उल्लुओं का अन्धत्व नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार सद्गुरु के वचनरूपी सूर्य का तेज मिलने पर भी जिनका मिथ्यात्व अन्धकार नष्ट नहीं होता, वे जीव उल्लू जैसे ही हैं। जिसकी होनहार भली नहीं है, उसे सुगुरु का सदुपदेश कभी रुचता नहीं है, विपरीत ही भासित होता है।

मिथ्यादृष्टियों की मूर्खता को धिक्कार है

तिहुवण जणं मरंतं, दिट्ठूण णिअंति जेण अप्पाणं।
विरमिंत ण पावाओ, धिद्धी धिट्ठत्तणं ताणं।।१०९।।

नित देख त्रिभुवन मरण, जीव नहीं करे आत्मानुभव।
उस ढ़ीठधी को नित्य धिक्, हो नहीं पापों से विरत।।१०९।।

अर्थ :– तीन लोक के जीवों को निरन्तर मरता देखकर भी जो जीव अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते, पापों से विराम नहीं लेते, ऐसे जीवों के ढीठपने को धिक्कार है।

भावार्थ :– संसार में पर्यायदृष्टि से देखने पर कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। अत: शरीरादि के लिये पापोपार्जन करके आत्मा का कल्याण नहीं करना – यह बड़ी मूर्खता है।

शोक करने से अत्यन्त अशुभ कर्म का बन्ध होता है

सोएण कंदिऊणं, कद्देऊणं सिरं च उर ऊरं।
अप्पं खिवंति णरए, तंपिहु धिद्धी कुणेहत्तं।।११०।।

जो शोक से क्रन्दन करे, सिर धुने छाती कूटते।
कुस्नेह को धिक्कार! यों निज को नरक में डालते।।११०।।

अर्थ :– जो जीव नष्ट हुए पदार्थों का शोक करके, ऊँचे स्वर से क्रन्दन करके रोते हुए सिर और छाती कूटता है, वह अपने आत्मा को नरक में पटकता है, उसके ऐसे कुस्नेह को भी धिक्कार है।

शोक करने से वर्तमान और भविष्य दोनों नष्ट होते हैं

एगंपिय मरण दुहं, अण्णं अप्पावि खिप्पए णरए।
एगं च माल पडणं, अण्णं च लठेण सिरधाओ।।१११।।

इक दु:ख इष्ट वियोग, उस पर स्वयं जाए नरक में।
ज्यों गिरा ऊपर से उसी के, घाव सिर में दण्ड से।।१११।।

अर्थ :– एक तो प्रियजन के मरण का दु:ख और दूसरा उसके शोक में अपने को नरक में गिराना। यह तो वैसा ही है जैसे कोई पहले तो ऊपर से गिरे और फिर लाठी से सिर में घाव हो जावे।

भावार्थ :– बीती-गई हुई पर्याय वापिस नहीं आती, अत: उसका शोक करना वृथा है। एक तो वह वर्तमान में दु:खरूप है और दूसरे आगामी काल में नरकादि दु:खों का कारण है।

भव्य जीव ही शुद्ध जैनधर्म में रुचि करते हैं

संपइ दूसमकाले, धम्मत्थी सुगुरु सावया दुलहा।
णाम गुरु णाम सद्दा, सराग दोसा बहू अत्थि।।११२।।

इस दुषम में धर्मार्थि श्रावक, सुगुरु दुर्लभ ही रहें।
हैं विविध रागद्वेषयुत, श्रावक गुरु बहु नाम के।।११२।।

अर्थ :– इस दु:खमा काल में धर्मात्मा सुगुरु तथा साधर्मी श्रावक दुर्लभ हैं। राग-द्वेष सहित नाम मात्र के गुरु और नामधारी श्रावक तो बहुत हैं।

भावार्थ :– इस निकृष्ट काल में परमार्थ धर्म-सेवन करना दुर्लभ है। लौकिक प्रयोजन के लिये धर्म-सेवन करनेवाले बहुत हैं, जो नाममात्र के लिये धर्म-सेवन करते हैं। धर्म-सेवन से तो वीतराग भाव की प्राप्ति होती है, जो उन्हें (नामधारी धर्मात्माओं को) कभी प्राप्त नहीं हो सकती।

धर्म धर्मात्माओं को आनन्दित करता है

कहियं विसुद्ध धम्मं काहिवि धण्णाण जणइ आणंदं।
मिच्छत्त मोहियाणं, होइ रई मिच्छ धम्मेसु।।११३।।

नित भाग्यशाली को करे, हर्षित कथित जिन शुध धरम।
मिथ्यात्व मोहित की रती, होती सदा मिथ्या धरम।।११३।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया जो शुद्ध जिनधर्म है, वह अनेक भाग्यवान-धन्य जीवों को आनन्दित करता है, किन्तु जो मिथ्यात्व से मोहित जीव हैं, उनकी प्रवृत्ति मिथ्याधर्म में ही होती है।

ज्ञानी जीवों की करुणा

इक्कं पि महादुक्खं, जिणवयण विऊण सुद्ध हिययाणं।
जं मूढा पावायं, धम्मं भणिऊण सेवंति।।११४।।

नित शुद्ध चित्ती जिन वचन, ज्ञाता जनों को एक ही।
है महा दुख ये मूढ़, सेवें धर्म कह नित पाप ही।।११४।।

अर्थ :– जिनका चित्त शुद्ध है ऐसे जिनवचन के ज्ञाताओं को एक ही महान दु:ख है कि मूर्ख लोग धर्म के नाम पर पाप का सेवन करते हैं और उसे धर्म कहते हैं।

भावार्थ :– कितने ही जीव तेरह प्रकार का नाममात्र का चारित्र धारण करके अपने को गुरु मनवाकर पश्चात् विषय-कषाय सेवन में लग जाते हैं, तथा धर्म के नाम पर हिंसादिक पाँचों पापों में लवलीन हो जाते हैं - ऐसे जीवों की मूर्खता देखकर अनेक ज्ञानियों को करुणा उत्पन्न होती है।

सच्चे धर्मात्माओं की विरलता है

थोवा महाणुभावा, जे जिणवयणे रमंति संविग्गा।
तत्तो भव भय भीया, सम्मं सत्तीइ पालंति।।११५।।

नित जिन वचन में जो रमें, संवेगयुत जन अल्प हैं।
भयभीत भव से शक्तिपूर्वक, शुद्ध समकित पालते।।११५।।

अर्थ :– ऐसे महानुभाव बहुत थोड़े हैं, जो वैराग्य में तत्पर होकर जिनवचनों के रहस्य में रमते हैं, और उन जिनवचनों के ज्ञानपूर्वक संसार से भयभीत होकर शक्ति पूर्वक सम्यक्त्व का पालन करते हैं।

भावार्थ :– अनेक खोटे कारण मिलने पर भी अच्छी तरह से सम्यक् विचाररूप शक्ति प्रगट करके सत्यार्थ श्रद्धान से जो चलायमान नहीं हो, ऐसे जीवों की बहुत दुर्लभता है।

सम्यग्दर्शन के बिना व्रताचरण निरर्थक है

सव्वं गंपिहु सगडं, जह ण चलइ इक्क वडहिला रहिअं।
तह धम्म फडाडोव, ण फलइ सम्मत्त परिहीणं।।११६।।

सर्वांग हैं पर धुरी बिन, गाड़ी नहीं चल सके ज्यों।
सम्यक्त्व बिन सब धर्म, आडम्बर रहे फल बिना त्यों।।११६।।

अर्थ :– जैसे सर्व अंग विद्यमान होने पर भी एक धुरी बिना गाड़ी चलती नहीं है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना धर्म का बड़ा आडम्बर भी फलीभूत नहीं होता। इसलिए व्रतादि धर्म सम्यक्त्व सहित ही धारण करना चाहिए।

ज्ञानी मध्यस्थ ही रहते हैं

ण मुणंति धम्मतत्तं, सत्थं परमत्थ गुण हियं अहियं।
बालाण ताण उवरिं, कह रोसो मुणिय धम्माणं।।११७।।

परमार्थ गुणमय धर्म तत्त्व, सुहिताहित जानें नहीं।
उन अज्ञ पर नहिं क्रोध हो, जिनधर्म ज्ञाता को कहीं।।११७।।

अर्थ :– जो अज्ञानी जीव धर्म के स्वरूप को नहीं जानते तथा

परमार्थरूप हित-अहित को नहीं जानते, उनके ऊपर जिनधर्म का रहस्य जाननेवाले ज्ञानी का क्रोध कैसे होय? नहीं होता। ज्ञानी जीव जानते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीवों को धर्म का स्वरूप मालूम ही नहीं है। फिर वे ऐसे जीवों पर क्रोध कैस करें? नहीं करते। मध्यस्थ ही रहते हैं।

अज्ञानी द्वारा अन्य का हित नहीं हो सकता

अप्पा वि जाण वयरी, तेसिं कह होइ परजिये करुणा।
घोराण वंदियाणय, दिट्ठे तेणय मुणेयव्वं।।११८।।

निज आतमा का है रिपु, क्या अन्य पर करुणा करे?
जो कैदखाने में स्वयं, वह अन्य को क्या छुड़ाए?।।११८।।

अर्थ :- जिन जीवों को अपना आत्मा ही वैरी है अर्थात् जो मिथ्यात्व और कषायों द्वारा अपना घात स्वयं ही करते हों, उन्हें दूसरे जीवों पर करुणा कैसे हो सकती है? जो स्वयं घोर बन्दीखाने में पड़ा हो, वह दूसरों को छुड़ाकर सुखी कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता है।

धन प्राप्त करने का भाव पाप-भाव है

जे रज्ज धणाईणं, कारण भूया हवंति वावारा।
ते विहु अइ पाव जुआ, धण्णा छंडंति भवभीया।।११९।।

जो राज्य वैभव आदि पाने, हेतु बहु व्यापार हैं।
वे सदा ही बहु पापमय, भवभीत छोड़ें धन्य वे।।११९।।

अर्थ :- जो राज्य और धनादिक के कारणभूत व्यापार हैं, वे समस्त निश्चय से पापयुक्त हैं। जो जीव संसार से भयभीत होकर इन पापों का त्याग करते हैं, वे जीव धन्य हैं।

भावार्थ :- कितने ही जीव धनादिक का अधिक संचय करके

अपने को बड़ा मानते हैं, सो ऐसा जिनमत में तो नहीं है। जिनमत में तो धनादिक के त्याग की ही महिमा है।

मिथ्यादृष्टि ही धन कमाने में आसक्ति रखता है

वीयादि सत्त रहिआ, धण सयणादीहि मोहिया लुद्धा।
सेवंति पावकम्मं, वावारे उयर भरणट्ठा।।१२०।।

वीर्यादि शक्तिहीन धन, परिजनादि में मोहयुत।
लोभी उदरभरणार्थ कर्म, वणिज करें सब पापयुत।।१२०।।

अर्थ :– जो जीव बल आदि शक्ति से रहित हैं, धन-पुत्रादि में मोहित हैं, वे ही पेट भरने के लिये व्यापार में पापसेवन करते हैं।

भावार्थ :– जो शक्तिमान हैं, वे पाप के कार्य नहीं करते।

उदर भरने के लिये पापारम्भ करनेवाले तो अधम हैं ही,
परन्तु उत्सूत्रभाषी तो अत्यन्त अधम हैं – अधमाधम हैं :–

तइ आहमाण अहमा, कारण रहिआ अणाण गव्वेण।
जे जंपति उस्सुत्तं, तेसिं धिद्धित्थु पंडित्ते।।१२१।।

हैं अकारण अज्ञानमद से, बोलते उत्सूत्र जो।
वे अधम से भी अधम हैं, धिक्कार उस पाण्डित्य को।।१२१।।

अर्थ :– जो जीव बिना कारण ही अज्ञान के गर्व से सूत्रों का उल्लंघन करके जिनवाणी (जिनमत) से विरुद्ध बोलते हैं, वे उत्सूत्रभाषी जीव अधमों में भी महाअधम (पापियों में भी महापापी) हैं, उनके पण्डितपने को भी धिक्कार है।

भावार्थ :– जो जीव लौकिक प्रयोजन साधने के लिये पाप करते हैं, वे तो पापी ही हैं; परन्तु जो बिना प्रयोजन ही अपनी मान कषाय को पोषने के लिये पण्डितपने के गर्व से जिनमत के विरुद्ध अन्यथा उपदेश करते हैं, वे तो महापापी हैं। कषाय के वशीभूत होकर

यदि एक अक्षर भी अन्यथा कहे, तो वह अनन्त संसारी होता है - ऐसा जिनमत में कहा गया है।

उत्सूत्रभाषी के संसार भ्रमण के उदाहरण

जं वीर जिणस्स जिओ, मरीइ उस्सुत्त लेस देसणओ।
सायर कोडाकोडिं, हिंडिउ अइ भीम भवरण्णे।।१२२।।
ता जइ इमं पि वयणं, वारं वारं सुणंति समयम्मि।
दोसेण अवगणित्ता, उस्सुत्तुवयाई सेवंति।।१२३।।
ताण कहं जिणधम्मं, कह णाणं कह महाण वेरग्गं।
कूडाभिमाण पंडिय, णडिआ वूडंति णरयम्मि।।१२४।।

जिन वीर जीव मरीचि भव में, अल्प-सा उत्सूत्र कह।
अति भयंकर भव वन भ्रमा, बहु करोड़ों सागर सतत।।१२२।।

जिन शास्त्र में ऐसे अनेकों, कथन बारम्बार सुन।
भी दोष नहिं गिनता सदा, उत्सूत्रवादी रहे बस।।१२३।।

उस जीव का जिनधर्म कैसा, ज्ञान क्या वैराग्य क्या?
मिथ्याभिमानी मान पण्डित, नरक में जा डूबता।।१२४।।

अर्थ :- महावीर भगवान का जीव मारीचि के भव में जिनसूत्र के वचनों का उल्लंघन कर थोड़ा-सा उपदेश देने के कारण अति भयानक भव-वन में कोड़ाकोड़ी सागर तक भटकता रहा। शास्त्र के ऐसे उदाहरणों को बार-बार सुनने पर भी दोषों को नहीं गिननेवाला जो मिथ्यासूत्र के वचनों का उपदेश देता है, उसे जिनधर्म कैसे होगा? तथा उत्तम वैराग्य भी कैसे होगा? ऐसे उत्सूत्रभाषी जीव मिथ्या अभिमानवश अपने को पण्डित मानते हुए नरक में डूबते हैं।

भावार्थ :- जो जीव जिनाज्ञा को भंग करके अपनी विद्वत्ता द्वारा

अन्यथा उपदेश करते हैं, वे जिनधर्मी नहीं हैं। वे तो मिथ्यात्वादिक द्वारा नरक निगोदादिक नीच गति के पात्र हैं।

तीव्र मिथ्यादृष्टि उपदेश का पात्र नहीं

मा मा जंपह वहुअं, जे वद्धा चिक्कणेहिं कम्मेहिं।
सव्वेसिं तेसिं जइ, इहि उवएसो महादोसो।।१२५।।

नहिं नहिं बताओ अत्यधिक, जो बँधे अति दृढ़ कर्म से।
उन सभी को उपदेश, हो जाता बुरा अति दोष से।।१२५।।

अर्थ :– जो जीव बहुत चिकने (दृढ़) कर्मों से बंधे हुए हैं, उन्हें उपदेश देना महादोष है। अत: उन्हें उपदेश मत दो, मत दो।

भावार्थ :– जिन जीवों को मिथ्यात्व का तीव्र उदय है, उन्हें बारंबार उपदेश देने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वे तो विपरीत ही परिणमते हैं। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है – ऐसा जानकर विद्वानों को मध्यस्थ रहना ही योग्य है।

तीव्र मिथ्यादृष्टि को उपेदश देना वृथा है

हिययम्मि जे कुसुद्धा, ते किं वुज्झंति धम्म वयणेहिं।
ता ताण कए गुणिणो, णिरत्थयं दमहि अप्पाणं।।१२६।।

मिथ्यात्व से अति मलिन को, जिनधर्म वाणी क्या जचे?
इस हेतु यत्न वृथा गुणी का, वह निजातम को दमे।।१२६।।

अर्थ :– जिनका हृदय अशुद्ध है-मिथ्यात्व-भाव से मलिन है, वे जीव धर्म-वचनों से क्या समझेंगे? कुछ नहीं समझेंगे। इसलिए उनको समझाने के लिये जो गुणवान प्रयत्न करता है, वह व्यर्थ ही अपनी आत्मा का दमन करता है अर्थात् वृथा कष्ट पाता है।

भावार्थ :– विपरीत मार्गी जीवों को उपदेश देने में कोई सार नहीं है। अत: उनके प्रति मध्यस्थ रहना ही उचित है।

सम्यक्त्व ही दुःख दूर करने का उपाय है

दूरे करणं दूरं, पि साहणं तह पभावणा दूरे।
जिण धम्म सद्दहाणं, तिक्खा दुक्खई णिट्ठवई।।१२७।।

धर्माचरण साधन प्रभावन, भाव का तो क्या कहें?
बस जिनधरम श्रद्धान ही, अति तीव्र दुख को मिटा दें।।१२७।।

अर्थ :– जिनधर्म का आचरण करना, उसके साधन करना (जुटाना), उसकी प्रभावना करना – ये सब तो दूर रहो, एक जैन–धर्म का दृढ़ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व होने से ही नरकादि दुःखों का अभाव हो जाता है। इसलिए जिनधर्म धन्य है।

सुगुरु के संग–प्राप्ति की भावना

कइआ होही दिवसो, जइ आ सुगुरूण पायमूलम्मि।
उस्सूत्त लेस विसलव, रहिऊण सुणेसु जिणधम्मं।।१२८।।

जब सुगुरु पादपयोज में, उत्सूत्र विष लव लेश बिन।
जिनधर्म सुन पाऊँ, अहो! कब, आएगा वह सुखद दिन।।१२८।।

अर्थ :– अहो! वह मंगल दिवस कब आयेगा, जब मैं श्रीगुरु के पादमूल में उनके चरणों के समीप बैठकर जिनधर्म का श्रवण करूँगा? कैसा होकर सुनूँगा? लेशमात्र उत्सूत्र से रहित होकर अर्थात् अज्ञानरूपी विष के कण के अंशमात्र से रहित होकर सुनूँगा।

तत्त्वज्ञ को ज्ञानी गुरु ही प्रिय हैं

दिट्ठावि केवि गुरुणो, हियए ण रमंति मुणिय तत्ताणं।
केवि पुण अदिट्ठा, चिय रमंति जिण वल्लहो जेम।।१२९।।

देख भी कुछ गुरु मन में, नहिं रुचें तत्त्वज्ञ को।
जिन बल्लभों वत् कुछ गुरु, रुचते भले दिखते न हों।।१२९।।

अर्थ :– कितने ही गुरु तो ऐसे हैं कि जिन्हें देख लेने पर भी तत्त्वज्ञानियों का हृदय उनमें रमता नहीं है अर्थात् वे लोक में तो गुरु कहलाते हैं, परन्तु उनमें गुरुपने का गुण एक भी नहीं होता। ऐसे गुरु ज्ञानी पुरुषों के हृदय में रुचते नहीं हैं और कोई गुरु ऐसे हैं, जो अदृष्ट हैं–देखने में नहीं आते हैं–तो भी तत्त्वज्ञानी पुरुषों के हृदय में जिन वल्लभ के समान रमते हैं। उन्हें जैसे जिनेन्द्र भगवान प्रिय हैं, उसी प्रकार सुगुरु भी प्रिय हैं। ज्ञानीजन उनका परोक्ष स्मरण करते हैं। जिस प्रकार गणधर आदि आज प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी ज्ञानीजनों के हृदय में वे रमते हैं, उसी प्रकार वे जिनवल्लभ सुगुरु में रमते हैं।

कोई कहे कि हम तो कुगुरु को सुगुरु के समान जानकर पूजेंगे। गुणों की परीक्षा करने से क्या प्रयोजन? उसका निषेध करते हैं:–

अइया अइ पाविट्ठा, सुद्धगुरु जिणवरिंद तुल्लंति।
जो इह एवं मण्णइ, सो विमुहो सुद्ध धम्मस्स।।१३०।।

पापिष्ठ अधिक परिग्रही से, सुगुरु जिनवर की करे।
तुलना रु सम माने वही, मानो विमुख शुध धर्म से।।१३०।।

अर्थ :– इस काल में जो जीव पापिष्ठ और परिग्रह के धारी कुगुरुओं की सद्गुरु या जिनराज से तुलना करता है, और ऐसा मानता है कि पापी कुगुरु एवं सुगुरु समान हैं–वह जीव पवित्र जिनधर्म से विमुख है।

भावार्थ :– जिसे सुगुरु और कुगुरु में अन्तर नहीं दिखायी देता, वह मिथ्यादृष्टि है।

श्रद्धान बिना पूजन करना निष्फल है

जं जं वंदसि पुज्जसि, वयणं ही लेसि तस्स राएण।
ता कह वंदसि पुज्जसि, जिणवायट्ठियं पि णो मुणसि।।१३१।।

अति प्रीति से जिन पूजते, करते नमन पर वचन की।
करते उपेक्षा अवज्ञा, जिन नमन पूजन व्यर्थ ही।।१३१।।

अर्थ :– जिस जिनेन्द्र देव को तुम प्रीतिपूर्वक पूजते हो, नमस्कार करते हो और उनके वचनों का पक्ष करते हो, उन जिनेन्द्रदेव के वचनों को तुम मानते नहीं हो, तो फिर तुम्हें उनको नमस्कार करने और पूजने का क्या फल मिलेगा?

भावार्थ :– कोई अज्ञानी बाहर में तो जिनेन्द्र भगवान की बहुत भक्ति-पूजा करते हैं, परन्तु उनके वचनों को नहीं मानते तो उनकी भक्ति पूजनादि करना कोई कार्यकारी नहीं है।

पूजन से पहले श्रद्धान आवश्यक है

लोए वि इमं सुणियं, जं आराहिज्जं तं ण कोविज्जो।
मण्णिज्ज तस्स वयणं, जइ इच्छसि इच्छियं काओ।।१३२।।

आराध्य को करते कुपित नहिं, लोक रीति यह सुनी।
जिनवचन नित ही मानता, चाहे सुवांछित सिद्धि ही।।१३२।।

अर्थ :– लोक में भी ऐसा सुनने में आता है कि जो किसी की आराधना करता है-सेवा करता है, तो वह उसे अप्रसन्न नहीं करता है। यदि तुम भी वांछित कार्य की सिद्धि चाहते हो, तो उन जिनेन्द्रदेव के वचनों को पहले मानो।

भावार्थ :– यह बात तो जगत-प्रसिद्ध है कि जो राजादि की सेवा करके उससे किसी फल की प्राप्ति चाहता है, तो उसकी आज्ञानुसार ही चलना उचित है। यदि उसकी आज्ञा नहीं माने तो कोई फल की प्राप्ति नहीं होती, उल्टा दण्ड मिलता है। इसलिए हे भाई! यदि तुम जिनेन्द्र भगवान की भक्ति-पूजा करते हो, तो उनके वचनों को भी मानो। भगवान की वाणी में जगह-जगह पर कहा गया है कि राग-

द्वेष सहित क्षेत्रपाल आदि हैं, वे कुदेव हैं, और जो परिग्रहधारी विषयाभिलाषी हैं, वे कुगुरु हैं; उन्हें सुदेव व सुगुरु नहीं मानो। यदि तुम भगवान की आज्ञा को सत्य मानकर उनको प्रमाण नहीं करते हो (प्रामाणिक नहीं मानते हो), तो उनकी भक्ति-पूजा का फल जो मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना है, वह तुम्हें कदापि प्राप्त नहीं होगा।

पंचम काल की विशेषता

दूसम दण्डे लोए, दुक्ख सिट्ठम्मि दुट्ठ उदयम्मि।
धण्णाण जाण ण चलइ, सम्मत्तं ताण पणमासि।।१३३।।

हैं श्रेष्ठ हैं अवनत दुष्ट उन्नत, दण्ड युत इस दुषम में।
वे धन्य जग में नहिं चलित, सम्यक्त्व जिनका नमूँ मैं।।१३३।।

अर्थ :- इस दु:खम दण्डरूप पंचम काल में श्रेष्ठ जैनीजन तो दु:खी हैं और दुष्ट पुरुष अभ्युदयवाले हैं। ऐसे इस लोक में धन्य हैं वे जीव, जो सम्यक्त्व से चलायमान नहीं होते; मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ :- इस निकृष्ट काल में सम्यक्त्व बिगड़ने के अनेक कारण बनते हैं, तो भी जो सम्यक्त्व से चलायमान नहीं होते, वे पुरुष धन्य हैं।

अब आगे गुरुओं की परीक्षा करने का उपाय बताते हैं-

णियमइ अणुसारेण, ववहार णयेण समय सुद्धीए।
कालक्खेत्तणुमाणे, परिक्खओ जाणिओ सुगुरु।।१३४।।

निजमति से व्यवहार से, सत् शास्त्र से जानों गुरु।
नित काल क्षेत्रानुमान से, कर परीक्षा मानों सुगुरु।।१३४।।

अर्थ :- अपनी बुद्धि अनुसार, व्यवहारनय के द्वारा, सिद्धान्त की शुद्धिपूर्वक, काल तथा क्षेत्र के अनुमान से परीक्षा करके सुगुरु को जानना चाहिये।

भावार्थ :– रत्नत्रय की साधना, वह साधु का लक्षण है। निश्चयनय से अंतरंग का रत्नत्रय तो दिखाई नहीं देता; परन्तु व्यवहारनय से शास्त्रों में जो महाव्रतादि २८ मूलगुणरूप आचरण बताया है, उसकी परीक्षा करके जानना चाहिये कि वे इनमें हैं या नहीं? यदि उन २८ मूलगुणों में से एक भी गुण कम हो या न हो, तो वह कुगुरु है तथा इस बात का भी विचार करना चाहिये कि – इस क्षेत्र में और इस काल में साधुओं का जैसा आचरण हो सकता है, वैसा आचरण इनका है या नहीं?

यदि इस क्षेत्र में और इस काल में सच्चे पंच महाव्रतादि २८ मूलगुण किसी में दिखायी दें, तो वह गुरु है।

यदि गुरु के योग्य क्षेत्र और काल न हों, पंच महाव्रतादि जिनमें न हों और फिर भी अपने को गुरु माने, तो वे कुगुरु हैं। जैसे – आज इस समय में कितने ही लोग प्रत्यक्ष में धन-धान्यादि परिग्रह सहित अव्रती हैं, परन्तु बहुत से भोले जैनी भाई ऐसे परिग्रहधारी व्रतरहित को भी गुरु मानते हैं – सो यह बड़ी भारी भूल है।

सच्चे गुरु की प्राप्ति कठिन है

तह विहु णिय जडयाए, कम्म गुरु तस्सणेव वीससिमो।
धण्णाण कयत्थाणं, सुद्ध गुरु मिलइ पुण्णेण।।१३५।।

निज मूर्खता कर्मोदयों से, गुरु नहीं पहिचानते।
अति पुण्य से सुकृतार्थ, सद्भाग्यवान को सद्गुरु मिलें।।१३५।।

अर्थ :– तथापि (परीक्षा करने पर भी) कर्म के तीव्र उदय से तथा अपनी जड़ता-अज्ञानता के कारण गुरु का श्रद्धान (पहिचान) नहीं करते और उनका निर्णय नहीं करते। पुण्य के उदय से किसी धन्य-भाग्यवान कृतार्थ जीव को ही शुद्ध गुरु मिलते हैं।

भावार्थ :– सच्चे गुरु की प्राप्ति सहज नहीं है। जिसकी भली होनहार होवे, उसे ही सच्चे गुरु की प्राप्ति होती है। हम अज्ञानी भाग्यहीनों को गुरु की प्राप्ति कैसे हो? इस प्रकार अपनी निंदापूर्वक गुरु के उत्कृष्टपने की भावना भानी चाहिए।

सच्चे गुरु ही शरण हैं

अहवं पुणो अउत्तो, ताजइ पत्तो अह ण पत्तोय।
तह विहु सो मह सरणं, संपइ जो जुग पहाण गुरु।।१३६।।

जो पुण्यशाली अवक्तव्य, महिम चरित्री त्यागयुत।
हैं जगप्रधान गुरुशरण, सम्पाद्य मुझको हैं सतत।।१३६।।

अर्थ :– जो गुरु पुण्यवान हो, वचन से जिसकी महिमा कही न जा सके, जो त्यागी हो, चारित्र सहित हो – ऐसे गुरु की शरण मुझे प्राप्त करने योग्य है अर्थात् वे गुरु मुझे शरण हैं, जो युग-प्रधान होवें।

धर्म को जानने की विधि

जिण धम्मं दुण्णेयं, अइ सयाणाणिहिं ण जइ सम्मं।
तह विहु समयट्ठिइए, ववहार णयेण णायव्वं।।१३७।।

जिनधर्म दुर्गम बहुत ज्ञानी, भी न सम्यक् जानते।
तो भी समय स्थिति हेतु, जानना व्यवहार से।।१३७।।

अर्थ :– यथार्थ जिनधर्म तो ऐसा दुर्गम है कि उसे बड़े-बड़े ज्ञानी ही जान सकते हैं। तो भी श्रद्धान की स्थिरता के लिये वह व्यवहारनय से जानने योग्य है।

भावार्थ :– निश्चय से मोह रहित आत्मा की परिणतिरूप शुद्ध जिनधर्म तो बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषों द्वारा भी जानना कठिन है, उसकी प्राप्ति होना तो दुर्लभ ही है। परन्तु सत्यार्थ देव-शास्त्र-गुरु का

श्रद्धानरूप जो व्यवहार धर्म है, वह तो अवश्य ही जानना चाहिए। यदि व्यवहारधर्म से जिनमत की स्थिरता बनी रहेगी तो कभी न कभी निश्चयधर्म की प्राप्ति भी हो जायेगी। यदि व्यवहारधर्म भी न रहे तो पाप-कार्यों में प्रवृत्ति होने से जीव निगोदादिक नीच गति में चला जायेगा, वहाँ धर्म की वार्ता भी दुर्लभ है। इसलिए यदि परमार्थ जानने की शक्ति न हो तो व्यवहार जानना ही भला है।

व्यवहार परमार्थ का साधक है

जह्मा जिणेहिं भणियं, सुय ववहार विसोहयं तस्स।
जायइ विसुद्ध वोही, जिण आणाराइ गत्ताओ।।१३८।।

जिन कथित श्रुत व्यवहार है, परमार्थ साधक इसलिए।
उससे जिनाज्ञाराधना, पावन सुबोधि हो उसे।।१३८।।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया, जो शास्त्र का व्यवहार है, वह परमार्थ-धर्म को साधनेवाला है, परमार्थ के स्वरूप को पृथक दिखलाता है और उससे जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का आराधकपना होने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप निर्मल बोधि उत्पन्न होती है।

भावार्थ :- जो जिनोक्त व्यवहार है, वह निश्चय का साधक है। शास्त्राभ्यासरूप व्यवहार से परमार्थरूप वीतरागधर्म की प्राप्ति होती है-ऐसा जानना।

गुरु की परीक्षा करके ही वन्दन करना चाहिए

जे जे दीसंति गुरु, समय परिक्खाइ तेण पुज्जंति।
पुण एगं सद्दहणं, दुप्पसहो जाव जं चरणं।।१३९।।

जो जो गुरु दिखते, परीक्षा कर सुश्रुत से पूज्य ही।
श्रद्धान सम्यक् ही कठिन, जब आचरण तो कठिन ही।।१३९।।

अर्थ :- वर्तमान समय में संसार में जो-जो गुरु दिखायी देते हैं

या गुरु कहलाते हैं, उन सब की शास्त्र द्वारा परीक्षा करके पूजना योग्य है। जिनमें शास्त्रोक्त गुण नहीं पाये जायें, उनको तो मूर्खों के सिवाय कोई भी नहीं पूजता। आजकल तो सच्ची श्रद्धा करना भी कठिन है, तो जीवन-पर्यन्त चारित्र धारण करना कठिन कैसे नहीं होगा? इसलिए जो सम्यक्-चारित्र के धारक हैं, वे गुरु ही पूज्य हैं।

शास्त्रानुसार परीक्षा करके ही गुरु मानना चाहिए

ता एगो जुगपवरो, मज्झत्थ मणेहिं समयदिट्ठीए।
सम्मं परिक्खियव्वो, मुत्तूण पवाह हलवोलं।।१४०।।

मध्यस्थ मन से जिनाज्ञा से, सत् परीक्षा कर गुरु।
जगप्रमुख को मानो, तजो जगरूढ़ उससे नहिं गुरु।।१४०।।

अर्थ :- इसलिए माध्यस्थ भाव से, स्वसमय में स्थिति के लिये, भेड़चाल छोड़कर, पक्षपात रहित होकर, शास्त्रानुसार, अच्छी तरह से परीक्षा द्वारा निश्चय करके किसी युग-प्रधान आचार्य को गुरु मानना चाहिये।

भावार्थ :- हमारे तो परम्परा से ये ही गुरु हैं, उनके गुण-दोष का विचार करने का हमें क्या काम है? इस प्रकार का पक्षपात व हठ छोड़कर जिसप्रकार रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि शास्त्रों में गुरु के गुण-दोष कहे हैं, उस प्रकार विचार करना चाहिए, और लोकमूढ़ता को छोड़कर परीक्षा करके गुरु को मानना चाहिए।

ज्ञानी भी अज्ञानी गुरु के संग से चलायमान हो जाते हैं

संपइ दूसम समये, णामायरिएहिं जणिय जण मोहा।
सुद्ध धम्माउ णिउणा, चलंति, वहुजण पवाहाओ।।१४१।।

इन कथित गुरुओं ने प्रचारा, दुषम में मिथ्या गहल।
जिससे निपुण भी सुधर्म विचलित, अचल कैसे अज्ञ जन?।।१४१।।

अर्थ :– इस दु:खम पंचम काल में आचार्य व गुरुपने के गुणों से रहित होकर भी नामधारी आचार्य व गुरु कहलाते हैं। उन्होंने लोक में ऐसा अविद्यारूपी अन्धकार फैला दिया है, जिससे निपुण पुरुष भी धर्म से चलायमान हो जाते हैं, तो भोले जीव उनके मायाजाल में क्यों नहीं फँसेंगे? जरूर फँसेंगे। उनका मायाजाल कैसा है? अनेक मूर्ख जीवों द्वारा चलायी भेड़चाल जैसा है, जिसे ज्ञानी पुरुष भी मानने लगते हैं।

भावार्थ :– परिग्रहधारी कुगुरु के निमित्त से बुद्धिमानों की बुद्धि भी चलायमान हो जाती है। अत: कुगुरुओं का निमित्त कभी नहीं मिलाना चाहिए।

ज्ञानी जीव ऊपर की ओर ही बढ़ते हैं

जाणिज्ज मिच्छदिट्ठी, जे पडणालंवणाइं गिण्हंति।
ते पुण सम्मादिट्ठी, तेसिं मणो चडण पयडीए।।१४२।।

जो अधोगामी आश्रयी, नित मान मिथ्यादृष्टि हैं।
मन ऊर्ध्वगामी आश्रयी, वे समझ सम्यग्दृष्टि हैं।।१४२।।

अर्थ :– जो जीव नीचे गिरने रूप आलम्बन को ग्रहण करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, और जिनका मन ऊपर चढ़नेरूप साधन में रहता है, वे जीव सम्यग्दृष्टि हैं।

भावार्थ :– जो जीव महाव्रत धारण करके धन-धान्यादि परिग्रह रखना आदि निचली अवस्था का आचरण करते हैं और अपने को गुरु-महन्त मनवाकर भोले जीवों से पुजवाते हैं, वे मिथ्यादृष्टि जीव पत्थर की नाव के समान हैं। और जो जीव सत्यार्थ देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करके अणुव्रत आदि को धारण करने के भाव रखते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं।

सच्चे गुरु की प्राप्ति दुर्लभ है

सव्वं पि जए सुलहं, सुवण्ण रयणाइ वत्थु वित्थारं।
णिच्चं चिअ मेलावं सुमग्ग णिरयाण अइ दुलहं।।१४३।।

सब स्वर्ण रत्नादि पदार्थों, की सुलभता बहुत ही।
सन्मार्गरत सुगुरु मिलन है, महा दुर्लभ नित्य ही।।१४३।।

अर्थ :– जगत में स्वर्ण, रत्न, आदि वस्तुओं का विस्तार तो सभी को सुलभ है, परन्तु जो सुमार्ग में रत हैं–जिनमार्ग में यथार्थतया प्रवर्तते हैं, ऐसे गुरुजनों का मिलाप निश्चय से सदा ही अत्यन्त दुर्लभ है।

देव, गुरु की पूजन से मान चाहना दुश्चरित्र है

अहिमाण विस समत्थं, यं च थुव्वंति देव गुरुणोयं।
तेहिं पि जई माणो, हा हा तं पुव्व दुच्चरियं।।१४४।।

अभिमान विष शमनार्थ करते, देव गुरु का स्तवन।
उससे यदि हो मान हा! हा!, पूर्व दुश्चारित्र फल।।१४४।।

अर्थ :– अभिमान रूपी विष को शमन करने के लिये अरिहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु का स्तवन किया जाता है–गुण गाये जाते हैं, परन्तु हाय! हाय!! उससे भी कोई मान पोषण करे, तो वह उसके पूर्व पाप का उदय ही है–दुश्चरित्र है।

भावार्थ :– अरिहन्तादिक वीतराग हैं। उनकी पूजा, भक्ति, स्तुति से मानादिक कषायों की मन्दता होती है। परन्तु जो कोई जीव उनसे अपने मानादि कषायों को पुष्ट करे कि हम बड़े भक्त हैं, बड़े ज्ञानी हैं, हमारा मन्दिर बहुत बड़ा है, तो वे बड़े अभागे हैं।

साधर्मी का साथ न देनेवाला जैनी नहीं है

जो जिण आयरणाए, लोओ ण मिलेइ तस्स आयारे।
हा हा मूढ करिंतो, अप्पं कह भणसि जिण वयणं।।१४५।।

जो जिनाज्ञामय आचरण में, नहीं जाए कहे हम।
हैं जैन लोकाचार में जा, हाय! कैसा जैन यह?।।१४५।।

अर्थ :– जो जीव जिनराज के आचार में प्रवर्तता है, तिस पर भी लोग यदि उसके आचार में शामिल नहीं होते हैं; तो हाय! हाय!! लोकाचार (लोक मूढ़ता) में प्रवर्तते हुए मूढ़जन अपने को जैनी किस प्रकार मानते हैं?

भावार्थ :– जैनियों की रीति तो अलौकिक-लोक से न्यारी है। जैनी वीतराग को देव मानते हैं, लोक रागी-द्वेषी को देव मानते हैं। जैनी अपरिग्रही निर्ग्रन्थ साधु को गुरु मानते हैं; लोक परिग्रही सग्रन्थ को गुरु मानते हैं। जैनी अहिंसा-दया में धर्म मानते हैं, लोक यज्ञादिक हिंसा में धर्म मानते हैं। इस प्रकार जैनियों का आचरण लोक से भिन्न है। यदि कोई लोक की तरह कुदेवादिक के पूजनादिक की प्रवृत्ति करे - प्रचार करे, तो वह जैनी कैसा? तात्पर्य यह जानना कि वह जैनी नहीं है।

जिनेन्द्रदेव को माननेवाले विरले हैं

जं चिय लोओ मण्णइ, तं चिय मण्णंति सयल लोयावि।
जं मण्णइ जिण णाहो, तं चिय मण्णंति किवि विरला।।१४६।।

जो अज्ञ माने उसे तो, सब मानते ही जगत जन।
जिननाथ जो मानें उसे ही, मानते कोई विरल।।१४६।।

अर्थ :– जो बात निश्चय से अज्ञानी लोग मानते हैं, उसे तो सारा संसार मानता ही है, परन्तु जो बात जिनेन्द्र देव कहते हैं, वह बात तो कोई विरला पुरुष ही मानता है।

भावार्थ :– अज्ञानी जीवों को धन-धान्यादि उत्कृष्ट भासित होते हैं, वह तो सभी मोही जीवों को स्वयमेव ही उत्कृष्ट भासित होते

हैं। परन्तु वीतराग भाव को उत्कृष्ट माननेवाले बहुत थोड़े हैं। जिनकी भली होनहार है और मोह मन्द हो गया है, उनको ही वीतरागता भली लगती है।

जिसे साधर्मी के प्रति कुटुम्ब से भी अधिक प्रेम नहीं उसे सम्यक्त्व का अभाव है

साहम्मि आउ अहिओ, बंधु सुप्पाइसु जाण अणुराओ।
तेसिं ण हु सम्मत्तं, विण्णेयं समयणीईए।।१४७।।

साधर्मिओं में अहित धी, अनुराग बन्धु सुतों में।
उनके नहीं सम्यक्त्व है, जानो जिनागम नीति ये।।१४७।।

अर्थ :– जिन्हें साधर्मी भाइयों के प्रति तो अहितबुद्धि (द्वेषभाव) है और पुत्र-बंधु आदि के प्रति अनुराग है, उन्हें सम्यक्त्व नहीं है - ऐसा सिद्धान्त का प्रगटपना न्याय से जानना चाहिए।

भावार्थ :– सम्यक्त्व के अंग तो वात्सल्यादि भाव हैं। जिसे साधर्मी के प्रति प्रेम नहीं है, उसे सम्यक्त्व नहीं। पुत्रादिक से प्रेम तो मोह के उदय से सब ही जीवों को होता है; उसमें कुछ सार भी नहीं है।

जिनदेव को माननेवाला अन्य देवों को नहीं मानता

जइ जाणसि जिणणाहो, लोयायाराण यक्ख पउहूओ।
ता तं तं मण्णंतो, कह मण्णसि लोय आयारं।।१४८।।

लोकाचरण से पृथक् हो, यदि मानते जिननाथ को।
नित मानते भी मानते, किस भाँति लोकाचार जो?।।१४८।।

अर्थ :– यदि तुम लोकाचार से परे जिनेन्द्र भगवान को जानते हो, तो उनको जानते और मानते हुए तुम लोकाचार को क्यों मानते हो?

भावार्थ :– जिनमत तो अलौकिक है, उसे मानते हुए तुम उससे विरुद्ध मिथ्यादृष्टियों की रीति को मत मानो।

मिथ्यात्वरूपी सन्निपात का इलाज जैनमत है

जो मण्णेवि जिणिंदं, पुणोवि पणमंति इयर देवाणं।
मिच्छत्त सण्णिवाइय, धत्थाणं ताण को विज्जो।।१४९।।

जो मानता जिननाथ तो भी, नमन करता अन्य को।
मिथ्यात्व सन्निपात से है, ग्रस्त वैद्य न लाभ हो।।१४९।।

अर्थ :– जो जीव जिनेन्द्र भगवान को मानते हुए भी अन्य कुदेवादिकों को प्रणाम करते हैं, उन मिथ्यात्वरूपी सन्निपात से ग्रस्त जीवों का वैद्य कौन है?

भावार्थ :– अन्य जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं, परन्तु जो जीव जैन होकर भी रागादि दोषों सहित कुदेवों को पूजते हैं, प्रणाम करते हैं वे महामूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। मिथ्यात्व के नाश का उपाय जिनमत है और जिनमत को पाकर के भी जिसका मिथ्यात्वरूपी रोग न जाये, तो फिर उसका कोई दूसरा इलाज ही नहीं है।

जिनदेव–गुरु और धर्मायतनों में भेदभाव करना मूढ़ता है

एगो सुगुरु एगोवि, सावगो चेई आई विविहाणि।
तत्थय जं जिण दव्वं, परस्परं तं ण विच्चंति।।१५०।।
ते ण गुरुणो सद्धा, ण पूअ होइ तेहि जिणणाहो।
मूढाणं मोहठिई, जाणं जइ समय णिपुणेहि।।१५१।।

सुगुरु समान समान श्रावक, विविध चैत्य समान ही।
तो भी धरम के द्रव्य का व्यय, परस्पर करते नहीं।।१५०।।

वे नहीं सुगुरु नहीं श्रावक, देव भी पूजे नहीं।
उन मूढ़ मिथ्या परिणति को, जानते अति निपुण ही।।१५१।।

अर्थ :– सब सुगुरु समान हैं, सब श्रावक समान हैं तथा सभी

जिनबिम्ब भी समान हैं। ऐसा होने पर भी जो जिन-मन्दिर का द्रव्य परस्पर एक-दूसरे के काम में खर्च नहीं करते हैं तो वे गुरु नहीं हैं, वे श्रावक भी नहीं हैं और उन्होंने भगवान को पूजा भी नहीं। उन मूर्खों की ऐसी मिथ्या परिणति विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों द्वारा ही जानी जाती है।

भावार्थ :- कितने ही जीव चैत्यालय आदि में भेद मानते हैं कि - यदि जिनमन्दिर हमारा है और यह जिनमन्दिर दूसरों का है; इस प्रकार भेद मानकर परस्पर भक्ति नहीं करते तथा धन भी खर्च नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि इस प्रकार भेद डालना, वह जिनधर्मियों की रीति नहीं है।

धर्मात्मा तथा धर्मायतनों में भेद डालनेवाला गुरु पद के योग्य नहीं है

सो ण गुरु जुगपवरो, जस्स पवयणम्मि वद्दए भेओ।
चिय भवण सावगाणं, साहारण दव्व माईणं।।१५२।।

जिनके वचन में जिनालय, श्रावक समूही धनादि।
में भेद रहता हो सकें वे, युगप्रवर सद्गुरु नहीं।।१५२।।

अर्थ :- जिसके प्रवचनों में जिनमन्दिर, श्रावक और पंचायती द्रव्य इत्यादि में भेद वर्तता है, वह गुरु युगप्रधान नहीं है।

भावार्थ :- कोई मन्दिरजी में रहनेवाले श्वेताम्बर, रक्ताम्बर, भट्टारक आदि कहते हैं कि - यह हमारा मन्दिर है, ये हमारे श्रावक हैं, यह हमारा द्रव्य है तथा अन्य चैत्यालय आदि हमारे नहीं हैं - इस प्रकार जो भेद मानते हैं, वे गुरु नहीं हैं। गुरु तो बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह रहित वीतराग जो हों वे ही हैं।

जिनवाणी के प्रति बहुमान का अभाव मिथ्यात्व का चिह्न

संपइ पहुवयणेणवि, जाव ण उल्लसइ विहि विवेयत्तं।
ता निविड मोह मिच्छत, गंठियाण दुट्ठ माहप्पं।।१५३।।

यदि अभी तक जिनवचन से, सुविधि विवेक नहीं प्रगट।
तो घोर मोह मिथ्यात्व ग्रन्थि, का बुरा माहात्म्य यह।।१५३।।

अर्थ :– जिसे वर्तमान काल में जिनराज प्रभु के वचनों से जब तक हित-अहित का विचार और स्व-पर का विवेक उल्लसित नहीं होता, तब तक उसे मोह और मिथ्यात्व की मजबूत गाँठ का बहुत माहात्म्य है-मिथ्यात्व की प्रचुरता है।

भावार्थ :– जिनवचनों को पाकर के भी जिसे हिताहित का ज्ञान नहीं हुआ, तो ऐसा समझना कि उसे तीव्र मिथ्यात्व का उदय है।

जिनवाणी का अपलाप महादुख का कारण है

वंधन मरण भयाइं, दुहाइ तिक्खाइ णेय दुक्खाई।
दुक्खाण दुह णिहाणं, पहुवयणा सायणा करणं।।१५४।।
बन्धन मरण भय आदि का, दुख तीव्र दु:ख नहीं कहा।
दु:खातिदुख हो जिनप्रभु, वाणी करे आसादना।।१५४।।

अर्थ :– इस लोक में बन्धन और मरण के भय आदि का दुख तीव्र दुख नहीं है। दुखों में दुख का निधान तो जिनप्रभु के वचनों की आसादना-अपलाप-करने से प्राप्त होता है।

भावार्थ :– बन्धनादिक तो वर्तमान में ही दु:खदाई हैं; भगवान की वाणी का लोपना तो अनंत भव में दु:खदाई है। इसलिए जिनाज्ञा भंग करने को महादु:खदाई जानना।

आत्मज्ञान बिना श्रावकपना नहीं होता

पहुवयण विहि रहस्सं, णाऊणवि जाण ण दीसए अप्पा।
ता कह सुसावगत्तं, जं चिण्णं धीर पुरुसेहिं।।१५५।।
जिनवचन के विधि रहस्यों, को जान नहिं आतमदरश।
तो सुश्रावकता कहाँ? वह तो, धीर पुरुषों से चरित।।१५५।।

अर्थ :– जिन वचनों के अनेक प्रकार के कथनों का रहस्य

जानकर भी जब तक आत्मा को नहीं देखा, तब तक सुश्रावकपना कैसे होगा? श्रावकपना तो आत्मज्ञानपूर्वक धीर पुरुषों द्वारा आचरण किया जाता है।

भावार्थ :– प्रथम जिनवाणी के अनुसार आत्मज्ञानी होना, पश्चात् श्रावक के अथवा मुनि के व्रत धारण करे – ऐसी रीति है। जिसे आत्मज्ञान नहीं, उसे सच्चा श्रावकपना नहीं होता।

ज्ञानी की भावना ऊपर चढ़ने की ही होती है

जइ विहु उत्तम सावय, पयडीए चडण करण असमत्थो।
तहवि पहुवयण करणे, मणोरहो मज्झ हिययम्मि।।१५६।।

है यद्यपि उत्तम सुश्रावक, श्रेणि चढ़ने की नहीं।
शक्ति जिनाज्ञाधीन वर्तूं, भावना तो नित्य ही।।१५६।।

अर्थ :– यद्यपि उत्तम श्रावक की श्रेणी पर चढ़ने में असमर्थ हूँ, तो भी प्रभु के वचनों के अनुसार प्रयत्न करने का मनोरथ मेरे हृदय में सदा बना रहता है।

भावार्थ :– मैं शक्ति की हीनता के कारण श्रावक के उत्कृष्ट व्रतों को धारण करने में असमर्थ हूँ, तो भी मुझे जिनाज्ञा प्रमाण धर्म धारण करने की लालसा है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने भावना भाई है।

जिन–वचनानुसार चलने की भावना

ता पहु पणमिय चरणे, इक्कं पत्थेमि परम भावेण।
तुह वयण रयण गहणे, अइलोहो हुज्ज मुज्झ सया।।१५७।।

जिन चरण नम सुविशुद्धि पूर्वक, है यही इक प्रार्थना।
अति लोभ हो जिनवचनरूपी, रत्न लेने का सदा।।१५७।।

अर्थ :– हे प्रभु! शुद्ध भाव से आपके चरणों में प्रणाम करके एक

प्रार्थना करता हूँ कि – आपके वचनरूपी रत्नों को ग्रहण करने का मुझे सदा अत्यन्त लोभ हो। इस प्रकार ग्रन्थकार ने इष्ट प्रार्थना की है।

पंचम काल में मिथ्यात्व की बहुलता

इह मिच्छवास णिक्किट्ठ, भावउ गलिय गुरु विवेयाणं।
अह्माण कह सुहाई, संभाविज्जंति सुविणे वि।।१५८।।

मिथ्यात्वयुत निकृष्ट भावों, में गुरु का ज्ञान ही।
है नष्ट कैसे सौख्य सम्भव, स्वप्न में भी इसे ही?।।१५८।।

अर्थ :– इस पंचम काल में मिथ्यात्व के निवासरूप निकृष्टभाव से जिनका गुरु-विवेक (गुरु सम्बन्धी, महान) नष्ट हो गया है, ऐसे हम लोगों को स्वप्न में भी सुख की सम्भावना कहाँ से हो?

भावार्थ :– सुख का मूल विवेक है और वह विवेक श्रीगुरु की कृपा से होता है; इस काल में सत्यार्थ गुरु का मिलना ही कठिन हो गया है, तो सुख कहाँ से हो?

पंचम काल में श्रावकपने की दुर्लभता

जं जीविय मित्तं विहु, धरेमि णामंपि सावयाणं च।
तं पि यहु महाचुज्जं, इह विसमे दूसमे काले।।१५९।।

इस विषम दु:षम काल में भी, मात्र जीवित नाम भी।
हूँ सुश्रावक धारण किए, यह भी महा आश्चर्य ही।।१५९।।

अर्थ :– इस विषम दु:खमा पंचम काल में मैं यह जीवन-मात्र धारण किये हूँ, और श्रावक का नाम भी धारण किये हूँ, वह भी महान आश्चर्य है।

भावार्थ :– इस काल में मिथ्यात्व की प्रवृत्ति बहुत है। हम जीवित हैं और श्रावक कहलाते हैं, वह भी आश्चर्य है।

सम्यक्त्व प्राप्ति की भावना

परिभाविऊण एवं, तह सुगुरु करिज्ज अम्ह सामित्तं।
पहु सामग्गि सुजोगे, जह सुलहं होइ सम्मत्तं।।१६०।।
यों सोच भाऊँ भावना, हे नाथ! करिए नाथता।
अब मिले सामग्री सुगुरु संयोग समकित सुलभता।।१६०।।

अर्थ :– इस प्रकार विचार कर कहता हूँ कि हे प्रभु! मुझ पर इतनी कृपा करो, जिससे मुझे सामग्रीरूप गुरु का सुयोग प्राप्त होकर सम्यक्त्व सुलभ हो जाय। पाठान्तर है - मणुयत्तं अर्थात् मनुष्यभव सफल हो जाय।

अन्तिम निवेदन–ग्रन्थाभ्यास की प्रेरणा

एवं भण्डारिय णेमिचन्द, रइया वि कइट्ठि गाहाओ।
विहि मग्गरया भव्वा, पठंतु जाणंतु जंतु सिवं।।१६१।।
यों नेमिचन्द भण्डारि ने, ये कुछ रचीं गाथा इन्हें।
विधि मार्गरत भव्यात्मा, पढ़ जान सुख शिवपद लहें।।१६१।।

अर्थ :– इस प्रकार नेमिचन्द भण्डारी ने इन गाथाओं की रचना की है। हे भव्य जीवों! इन्हें पढ़ो, जानो और कल्याणरूप मोक्षपद प्राप्त करो। कैसे हैं भव्य जीव? जो विधिमार्ग में लीन हैं और यथार्थ आचरण में तत्पर हैं।

अनुवादक की प्रार्थना

इस प्रकार 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' नामक ग्रन्थ की गाथा–सूत्रों की वचनिका समाप्त हुई। इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका तो थी नहीं, परन्तु कुछ टिप्पण था, उससे विधि मिलाकर मेरी बुद्धि में जैसा प्रतिभासित हुआ, वैसा अर्थ लिखा है। कहीं भूल अवश्य

हुई होगी। अत: बुद्धिमान शोध लीजिए। आम्नाय विरुद्ध अर्थ तो मैंने लिखा नहीं, परन्तु यदि गाथा के कर्त्ता का अभिप्राय और भी होता हो तो समझ लेना।

(सवैया)

रागादिक दोष जामें पाइये कुदेव सोय,
ताकों त्यागि वीतराग देव उर ल्याइये।
वस्त्रादिक ग्रन्थ धार कुगुरु विचार तिन्हें,
गुरु निर्ग्रन्थ को यथार्थ रूप ध्याइये।।
हिंसामय कर्म सो कुधर्म त्यागि, दयामय
धर्म ताहि निशि दिन हिरदे में भाइये।
सम्यक्दरश मूल कारण सरस ये ही,
इनके विचार में न कहुं अलसाइये।।

(छप्पय)

मंगल श्री अरहन्त सन्त जिन चिन्तति दायक।
मंगल सिद्ध समूह सकल ज्ञेयाकृति ज्ञायक।।
मंगल सूरि महंत भूरि गुणवंत विमल मति।
उपाध्याय सिद्धान्त पाठ–कारक प्रवीण अति।।
निज सिद्ध रूप साधन करत, साधु परम मंगल करण।
मन वचन काय लय लाय नित 'भागचंद' वंदत चरण।।

(छप्पय)

गोपाचल के निकट सिंधिया नृपति कटक वर।
जैनी जन बहु वसइ जहाँ जिन भक्ति भाव भर।।
तिन महं तेरह पंथ गोष्ट राजत विशिष्ट अति।
पार्श्वनाथ जिनधाम रच्यो जिन शुभ उतुंग अति।।

तहं देश वचनिका रूप यह 'भागचंद' रचना करिय।
जयवंत होउ सत्संग नित जा प्रसाद बुधि विस्तरिय।।

(दोहा)

संवत्सर गुनईश से, द्वादश ऊपर धार।
दोज कृष्ण आसाढ़ की, पूर्ण वचनिका सार।।

ऐसैं 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' की वचनिका समाप्त।

संवत् १८१४ विषैं मास मिति चैत सुदी नवमी दीतवारे लिखी नोलाई का तेरहपंथ आम्नाय का मन्दिर सुद्ध सहेली वाचनार्थ।

समाप्त